विवेक-ज्योति

वर्ष ४४ अंक १ जनवरी २००६ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ।।

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक १

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें}

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०७७१ - २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द - आदि कालजयी विभूतियों के जीवन तथा कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करते हैं। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि उपरोक्त दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, न केवल पूरे भारतवर्ष, अपितु सम्पूर्ण विश्ववासियों के बीच पारस्परिक सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सर्वग्राही तथा उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्मशताब्दी वर्ष १९६३ ई. से इस पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था। तब से ३६ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक उसी रूप में और पिछले ६ वर्षों से मासिक के रूप में अबाध गति से प्रज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है।

आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प - मात्र रु. ५०/- ; ५ वर्षों के लिए रु. २२५/- और आजीवन (२५ वर्षों के लिए) रु. १०००/- मात्र है। अपने मित्रों, परिचितों, प्रियजनों तथा सम्बन्धियों से इस वर्ष के लिए सदस्यता-शुल्क एकत्र करके या अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें अवश्य भेज दें।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति' मासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ नियम ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान - रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता - मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक - स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक - स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
स्वत्वाधिकारी - रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के ट्रस्टीगण -

स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द।

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट — **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत् संसारविच्छित्तये
स्वर्ग-द्वार-कवाट-पाटन-पटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः।
नारी-पीन-पयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवन-वनच्छेदे कुठारा वयम् ।।४५।।

अन्वय – संसार-विच्छित्तये ईश्वरस्य पदम् विधि-वत् न ध्यातम्, स्वर्ग-द्वार-कवाट-पाटन-पटुः धर्मः अपि न उपार्जितः, स्वप्ने अपि नारी-पीन-पयोधर-उरु-युगलं न आलिङ्गितम्, मातुः यौवन-वन-च्छेदे वयम् केवलं कुठारा एव ।।

भावार्थ – जन्म-मरण-रूपी संसार के विच्छेदन अर्थात् मोक्षप्राप्ति हेतु ईश्वर के चरणों का शास्त्र-विधि के अनुसार हमने ध्यान नहीं किया, स्वर्गद्वार के किवाड़ों को खोलने में सक्षम धर्म का भी हमने उपार्जन नहीं किया, सपने में भी हमने पीन-पयोधरोंवाली नारी का आलिंगन नहीं किया; हम तो केवल माता के यौवनरूपी पुष्पित उद्यान का उच्छेदन करने के लिए कुल्हाड़ी के रूप में ही जन्मे हैं।

नाभ्यस्ता प्रतिवादिवृन्द-दमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठ-दलनैर्नाकं न नीतं यशः।
कान्ता-कोमल-पल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ।।४६।।

अन्वय – प्रतिवादि-वृन्द-दमनी विनीत-उचिता विद्या न अभ्यस्ता, करि-कुम्भ-पीठ-दलनैः खड्ग-अग्रैः यशः नाकं न नीतम्, चन्द्र-उदये कान्ता-कोमल-पल्लव-अधर-रसः न पीतः, अहो ! शून्य-आलये दीप-वत् तारुण्यं निष्फलम् एव गतम् ।।

भावार्थ – प्रतिवादियों को हराने में सक्षम विनय आदि गुणों से युक्त अभ्यसनीय वेदादि विद्या का हमने अनुशीलन नहीं किया, हाथियों के मस्तक तथा पीठ आदि को विदीर्ण करनेवाले तलवार की नोंक से अपनी कीर्ति को स्वर्ग तक नहीं पहुँचाया, चन्द्रमा के उदयकाल में कान्ता के कोमल पल्लवों रूपी अधर-रस का भी पान नहीं किया, अहा ! निर्जन भवन में स्थित दीप के समान हमारी तरुणाई निरर्थक ही चली गयी।

– भर्तृहरि

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(मधुवन्ती–कहरवा)

भोगवाद के काले बादल, जब सारी दुनिया में छाए,
सब धर्मों की रक्षा करने स्वामी विवेकानन्द आए ।।

शुभ सन्मार्ग दिखाया जग को, सच्चा कर्म सिखाया सबको,
त्याग और सेवा से ईश्वर, पाने का पथ-सुगम बताए ।। स्वामी...

सुन सन्देश जगत् मोहित है, मेधा देख चकित-विस्मित है,
हृदय कमल करुणा से पूरित,
सुन्दर रूप सहज मन भाए ।। स्वामी...

है व्यक्तित्व परम मनभावन, जीवन-चरित पतित-जन-पावन,
उनका स्मरण-मनन औ चिन्तन,
चिर 'विदेह' मन-मधुप लुभाए ।। स्वामी...

– २ –

(मालकौंस–कहरवा)

जन्म लिया है स्वामीजी ने,
करने हम सबका उत्थान,
समता का गुरु-पाठ पढ़ाने,
देकर उपनिषदों का ज्ञान ।।

भोगवाद है अति दुखदाई,
इसमें डूब न जाना भाई,
अब दुनिया को लेना होगा,
धर्मसहित भौतिक-विज्ञान ।।

दीन-दुखी को इष्ट बनाया,
सेवा को पूजा बतलाया,
नर में नारायण बसते हैं,
सिद्ध किया दे ठोस प्रमाण ।।

उनके उपदेशों पर चलना,
पर-उन्नति से कभी न जलना,
अन्तर में करना 'विदेह' नित,
उनकी मोहक छवि का ध्यान ।।

– *विदेह*

नारियों की शिक्षा (२)

स्वामी विवेकानन्द

जन्मगत भले-बुरे संस्कार

माता इतनी पूज्य क्यों है? हमारे शास्त्रों के अनुसार जन्म-पूर्व प्रभाव बालक को भले या बुरे प्रवृत्तिवाला बनाता है। तुम सैकड़ों महाविद्यालयों में अध्ययन करके लाखों ग्रन्थ पढ़ डालो, संसार के सारे विद्वानों के संसर्ग का लाभ उठाओ, पर यदि तुमने भले संस्कारों के साथ जन्म लिया है, तो अच्छे रहोगे। तुम भले या बुरे बनने के लिये जन्म लेते हो। शास्त्रों का मत है कि बालक जन्मजात देव या असुर होता है। शिक्षा आदि का स्थान बाद में आता है – उनका प्रभाव नगण्य होता है। तुम वही हो, जो जन्म से होते हो। यदि माता ने तुम्हें रुग्ण शरीर दिया है, तो कितने भी थोक औषधि-भण्डारों को निगल डालो, फिर भी क्या तुम अपने को स्वस्थ रख सकते हो? क्या तुम रोगी, दुर्बल और विषैले रक्तवाले माता-पिता से जन्मा एक भी स्वस्थ पुरुष बता सकते हो? एक भी नहीं! हम प्रबल भली या बुरी प्रवृत्तियों के साथ जन्म लेते हैं, हम जन्मजात देव या असुर होते हैं। शिक्षा आदि का प्रभाव अल्प ही होता है। हमारे शास्त्र कहते हैं – बालक का जन्म होने के पूर्व के प्रभाव का नियंत्रण करो। माता की पूजा क्यों हो? क्योंकि वे पवित्र हैं। उन्होंने अनेक कठोर तपस्याएँ करके स्वयं को मूर्तिमान पवित्र बनाया है।

ब्रह्मचर्य का आदर्श

मेरे विचार से पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए किसी भी जाति को मातृत्व के प्रति आदर की धारणा दृढ़ करनी चाहिए; और वह विवाह को अछेद्य एवं पवित्र धर्म-संस्कार मानने से ही हो सकती है। रोमन कैथोलिक ईसाई और हिन्दु विवाह को पवित्र धर्म-संस्कार मानते हैं, इसीलिए दोनों जातियों ने परम शक्तिमान महान् ब्रह्मचारी पुरुषों और स्त्रियों को पैदा किया है। अरबों के लिए विवाह एक करारनामा या बल से ग्रहण की हुई सम्पत्ति है, जिसका अपनी इच्छा से अन्त किया जा सकता है, इसलिए उनमें ब्रह्मचर्य-भाव का विकास नहीं हुआ है। जिन जातियों में अभी तक विवाह का विकास नहीं हुआ था, उनमें आधुनिक बौद्ध-धर्म का प्रचार होने के कारण, उन्होंने संन्यास को एक उपहास बना डाला है। इसलिए जापान में जब तक (परस्पर प्रेम और आकर्षण को छोड़कर) विवाह के पवित्र और महान् आदर्श का निर्माण न होगा, तब तक, मेरी समझ में नहीं आता कि वहाँ बड़े-बड़े संन्यासी और संन्यासिनियाँ कैसे हो सकते हैं! ... जीवन का गौरव ब्रह्मचर्य है और यह बात मेरी समझ में आने लगी है कि जनता के लिए इस बड़े धर्म-संस्कार की जरूरत है, जिससे कुछ शक्ति-सम्पन्न आजीवन ब्रह्मचारियों की उत्पत्ति हो।[२८१]

यह सीता-सवित्री का देश है। पुण्यक्षेत्र भारत में अभी तक स्त्रियों में जैसा चरित्र, सेवाभाव, स्नेह, दया, तुष्टि और भक्ति पायी जाती है, पृथ्वी पर अन्यत्र कहीं ऐसा नहीं है। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों को देखकर कुछ देर तक यही नहीं समझ में आता था कि वे स्त्रियाँ हैं; देखने में ठीक पुरुषों के समान हैं; ट्रामगाड़ी चलाती हैं, दफ्तर जाती हैं, स्कूल जाती हैं, प्रोफेसरी करती हैं! एकमात्र भारत की ही स्त्रियों में लज्जा, विनय आदि देखकर नेत्र शीतल होते हैं। ऐसे योग्य आधार के होने पर भी तुम उनकी उन्नति न कर सके! इनको ज्ञानरूपी ज्योति दिखाने का कोई प्रबन्ध नहीं किया! रीति से शिक्षा पाने पर ये संसार की आदर्श स्त्रियाँ बन सकती हैं।[२८२]

वास्तविक शिक्षा ही सभी समस्याओं का समाधान करनेवाली होगी और धर्म उसका केन्द्र होगा

(हमारी नारियों की) समस्याएँ अनेक और गम्भीर भी हैं, परन्तु उनमें एक भी ऐसी नहीं है, जो जादू भारे शब्द 'शिक्षा' से हल न की जा सकती हो। पर वास्तविक शिक्षा की तो अभी हम लोगों में कल्पना भी नहीं की गयी है।[२८३] शिक्षा केवल शब्दों का रटना मात्र नहीं है; हम इसे मानसिक शक्तियों का विकास अथवा व्यक्तियों को ठीक तरह से और दक्षतापूर्वक इच्छा करने का प्रशिक्षण देना कह सकते हैं। इस प्रकार हम भारत की आवश्कता के लिए महान् निर्भीक नारियाँ तैयार करेंगे – नारियाँ जो संघमित्रा, लीला, अहल्याबाई और मीराबाई की परम्पराओं को चालू रख सकें – नारियाँ जो वीरों की माताएँ होने के योग्य हों, इसलिए कि वे पवित्र तथा आत्मत्यागी हैं और उस शक्ति से शक्तिशाली हैं, जो भगवान के चरण छूने से आती है।[२८४]

परन्तु नारियों के मामले में हमारा हस्तक्षेप करने का अधिकार केवल उनमें शिक्षा का प्रचार करने तक ही सीमित है। हमें नारियों को ऐसी स्थिति में पहुँचा देना होगा, जहाँ वे अपनी समस्याओं को स्वयं अपने ढंग से सुलझा सकें। उनके लिए यह काम न कोई कर सकता है और न किसी को
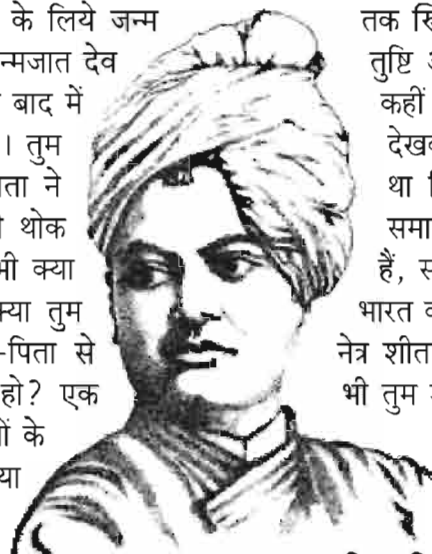
करना चाहिए। और हमारी भारतीय नारियाँ संसार की अन्य किन्हीं भी नारियों की भाँति इसे करने में पूर्ण सक्षम हैं।[२८५] मैं यह नहीं कहता कि मैं अपने समाज में नारियों की अवस्था से पूर्णतः सन्तुष्ट हूँ। परन्तु नारियों के मामले में हमें हस्तक्षेप करने का अधिकार केवल उन्हें शिक्षा देने तक ही है। तुम लोग नारियों को शिक्षा देकर छोड़ दो, तब वे स्वयं ही अपने लिये आवश्यक सुधार के विषय में तुम्हें बतायेंगी। उनके मामले में हस्तक्षेप करनेवाले तुम कौन होते हो?[२८६] मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं स्वाभाविक उन्नति में विश्वास करता हूँ। मैं अपने को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर अपने समाज के लोगों के सिर पर यह उपदेश मढ़ने का साहस नहीं कर सकता कि 'तुम्हें इसी भाँति चलना होगा, दूसरी तरह नहीं।' राष्ट्रीय जीवन को पुष्ट करने के लिये जिन चीजों की जरूरत है, उन्हें देते जाओ, बस वह अपने ढंग से उन्नति करता जायगा। हमारा कर्तव्य है समाज के स्त्री-पुरुषों – सभी को शिक्षा देना। इसके फलस्वरूप वे स्वयं भला-बुरा समझेंगे और बुरे को छोड़ देंगे। तब किसी को इन विषयों पर समाज का खण्डन या मण्डन करना न पड़ेगा।

धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, भोजन बनाना, सीना, शरीर-पालन आदि सब विषयों की मोटी-मोटी बातें सिखाना उचित है। नाटक और उपन्यास तो उनके पास तक नहीं पहुँचने चाहिए। महाकाली पाठशाला अनेक विषयों में ठीक पथ पर चल रही है, किन्तु केवल पूजा-पद्धति सिखलाने से ही काम न बनेगा। सब विषयों में उनकी आँखें खोल देना उचित होगा। आदर्श नारी-चरित्र सर्वदा छात्राओं के सामने रखकर त्यागरूप व्रत में उनका अनुराग उत्पन्न कराना चाहिए। सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, खनाबाई, मीराबाई आदि के जीवन-चरित्र कुमारियों को समझाकर उनको अपना जीवन वैसा बनाने का उपदेश देना होगा।[२८७]

असल बात यह है कि शिक्षा हो या दीक्षा, धर्महीन होने पर उसमें त्रुटि रह ही जाती है। अब धर्म को केन्द्र बनाकर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना होगा धर्म के सिवा दूसरी शिक्षाएँ गौण होंगी। धर्मबोध, चरित्र-गठन तथा ब्रह्मचर्य-पालन इन्हीं के लिये तो शिक्षा की जरूरत है। वर्तमान काल में आज तक भारत में स्त्री-शिक्षा का जो प्राचार हुआ है, उसमें धर्म को ही गौण बनाकर रखा गया है। सारे दोष इसी कारण उत्पन्न हुए हैं। परन्तु इसमें स्त्रियों का क्या दोष है? सुधारक-गण स्वयं ब्रह्मज्ञ हुए बिना स्त्री-शिक्षा देने को अग्रसर हुए थे, इसीलिए उसमें इस प्रकार की त्रुटियाँ रह गयीं। सभी सत्कार्यों के प्रवर्तकों को इच्छित कार्य की शुरुआत के पूर्व कठोर तप के द्वारा आत्मज्ञ हो जाना चाहिए, नहीं तो उनके काम में गलतियाँ निकलेंगी ही।[२८८] मैं धर्म को शिक्षा का अन्तरतम अंग समझता हूँ। ... मेरा विचार है कि अन्य विषयों के समान ही शिक्षक को चाहिए कि वह छात्रा को उसके आरम्भिक बिन्दु से ले और उसे इस योग्य बनाये कि वह स्वयं अपने अल्पतम बाधा के मार्ग से विकसित हो सके।

आत्मरक्षा में समर्थ तथा त्याग-व्रत में दीक्षित करना

शिक्षा से मेरा तात्पर्य आधुनिक प्रणाली की शिक्षा से नहीं, वरन् ऐसी शिक्षा से है जो सकारात्मक हो तथा जिससे स्वाभिमान और श्रद्धा के भाव जागें। केवल किताबें पढ़ा देने से कोई लाभ नहीं। हमें ऐसी शिक्षा की जरूरत है, जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो, और देश के युवक अपने पैरों पर खड़े होना सीखें। ... इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त होने पर स्त्रियाँ अपनी समस्याएँ स्वयं ही हल कर लेंगी। अब तक तो उन्होंने केवल असहाय के रूप में दूसरों पर आश्रित होकर जीवन बिताना और जरा-सी भी आशंका होने पर आँसू बहाना ही सीखा है। दूसरी बातों के साथ-साथ उन्हें वीरता का भाव भी सीखना चाहिए। आज के जमाने में उनके लिए आत्मरक्षा सीखना भी बहुत जरूरी हो गया है। देखो, झाँसी की रानी कैसी थीं![२८९] इसलिए मेरी इच्छा है कि मैं कुछ ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ बनाऊँ। ब्रह्मचारी समय पर संन्यास लेकर हर प्रान्त में, हर गाँव में जायेंगे और जन-साधारण में शिक्षा का प्रसार करने का प्रबन्ध करेंगे और ब्रह्मचारिणियाँ स्त्रियों में विद्या का प्रसार करेंगी। पर यह सब काम अपने देश के ढंग से होना चाहिए। पुरुषों के लिए जैसे शिक्षा-केन्द्र बनेंगे, वैसे ही स्त्रियों के निमित्त भी स्थापित करने होंगे। शिक्षित और सच्चरित्र ब्रह्मचारिणियाँ इन केन्द्रों में कुमारियों को शिक्षा देंगी। वर्तमान विज्ञान की सहायता से पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प, गृहस्थी के सारे नियम आदि सिखाने होंगे और आदर्श चरित्र-गठन करने के लिए उपयुक्त आचरण की भी शिक्षा देनी होगी। कुमारियों को धर्म-परायण और नीति-परायण बनाना पड़ेगा; ताकि वे भविष्य में अच्छी गृहिणियाँ हों। इन कन्याओं से जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह इन विषयों में और भी उन्नति कर सकेगी। जिनकी माताएँ शिक्षित और नीति-परायण हैं, उन्हीं के घर में महान् लोग जन्म लेते हैं। वर्तमान समय में तो तुम लोगों ने स्त्रियों को मात्र उत्पादन-यंत्र बना रखा है। ... स्त्रियों के बिना क्या छात्राओं को ऐसी शिक्षा दी जा सकती है? ... शिक्षित, विधवा या ब्रह्मचारिणियों को ही पाठशाला का पूरा भार सौंपना चाहिए। इस देश की नारी-शिक्षण-संस्थाओं में पुरुषों का संसर्ग बिल्कुल भी उचित नहीं होगा।[२९०]

(बालिकाओं को) शिक्षा देकर छोड़ देना होगा। इसके बाद वे स्वयं ही सोच-समझकर जो उचित होगा, करेंगी। विवाह करके गृहस्थी में लग जाने पर भी वैसी लड़कियाँ अपने पतियों को उच्च भाव की प्रेरणा देंगी और वीर पुत्रों की जननी बनेंगी।[२९१] उन्हें देखकर और उनके प्रयासों से देश

का आदर्श पलट जायेगा। आज क्या स्थिति है? माँ-बाप, येन-केन-प्रकारेण अपनी कन्या का विवाह निपटा देना चाहते हैं – चाहे वह ९ वर्ष की हो या १० की ! और यदि तेरह वर्ष की अवस्था में ही उसको सन्तान हो जाती है, तो समूचे परिवार के लिए महोत्सव हो जाता है ! यदि इन विचारों का प्रवाह बदल दिया जाय, तो पुरातन श्रद्धा के पुरागमन की कुछ आशा हो सकती है। और जो ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन यापन करेंगी, उनका तो कहना ही क्या – उनकी स्वयं में कितनी महान् श्रद्धा होकी और कितना विश्वास होगा ! और उनसे कितना हित और कल्याण होगा ![२९२]

धीरे-धीरे सब होगा। देश में अभी तक ऐसे शिक्षित लोगों ने जन्म नहीं लिया, जो समाज-शासन की परवाह किये बिना अपनी कन्याओं को अविवाहित रख सकें। देखो, आज भी कन्याएँ १२-१३ वर्ष की होते ही, समाज के भय से विवाह में दे दी जाती हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व, सम्मति विधेयक (Consent Bill) के आने पर समाज के नेताओं ने लाखों लोगों को एकत्र करके चिल्लाना शुरू कर दिया कि हम यह कानून नहीं चाहते ! अन्य देशों में इस प्रकार की सभा इकट्ठी करके विरोध-प्रदर्शन की तो कौन कहे, कानून के बनने की बात सुनते ही लोग लज्जा से अपने घरों में छिप जाते हैं और सोचते हैं कि क्या अभी तक हमारे समाज में इस प्रकार का कलंक मौजूद है?[२९३]

बाल-विवाह होने से स्त्रियाँ अल्पायु में ही सन्तान प्रसव करके मर जाती हैं। उनकी सन्तान क्षीणजीवी होकर देश में भिक्षुओं की संख्या की वृद्धि करती हैं, क्योंकि माता-पिता का शरीर सम्पूर्ण रूप से सबल न होने से सबल और नीरोग सन्तान कैसे पैदा होगी? पठन-पाठन कराकर अधिक उम्र में कुमारियों का विवाह करने से उनकी जो सन्तानें होंगी, उनसे देश का कल्याण होगा। तुम्हारे घरों में जो इतनी विधवाएँ हैं, इसका कारण बाल-विवाह ही तो है। बाल-विवाह कम होने से विधवाओं की संख्या भी कम हो जायेगी।[२९४] मेरा मत है कि बाल-विवाह के मूल तत्त्व को नष्ट करने का प्रयास न करके, बालक-बालिकाओं का विवाह ज्यादा उम्र में ही होना चाहिए? पर साथ-साथ उन्हें अच्छी शिक्षा भी दी जाय, नहीं तो भ्रष्टाचार बढ़ने की आशंका है।

भला-बुरा सब देशों में है। मेरा मत है कि सब देशों में समाज अपने आप बनता है। इसी कारण बाल-विवाह उठा देना या विधवा-विवाह आदि विषयों में सिर पटकना व्यर्थ है। हमारा कर्तव्य है कि समाज के स्त्री-पुरुषों – सभी को शिक्षा दें। इससे फल यह होगा कि वे स्वयं ही अपना भला-बुरा समझेंगे और बुरे को छोड़ देंगे। तब इन विषयों पर समाज में किसी को कुछ तोड़ना-जोड़ना नहीं पड़ेगा।[२९५] हमारे आधुनिक सुधारक विधवाओं के पुनर्विवाह कराने में बड़े व्यस्त हैं। निश्चय ही मुझे हर सुधार से सहानुभूति है; पर राष्ट्र की भावी उन्नति विधवाओं को अधिकाधिक पति मिलने पर निर्भर नहीं, वरन् 'आम जनता की अवस्था' पर निर्भर है।

विचार तथा कार्य में प्रतिबन्ध हटाने की जरूरत

शिक्षा और संस्कृति की बात पुरुषों पर अवलम्बित है। अर्थात् जहाँ के पुरुष शिक्षित और सुसंस्कृत हैं, वहाँ की स्त्रियाँ भी शिक्षित और सभ्य हैं; जहाँ के पुरुष सभ्य और शिक्षित नहीं, वहाँ स्त्रियाँ भी वैसी ही हैं।[२९६] बाहर के प्रयास से सामाजिक व्याधियाँ दूर नहीं होंगी, इसके लिये मन पर कार्य करने का प्रयास करना होगा। उन्नति की पहली शर्त है – स्वाधीनता। जैसे व्यक्ति को सोचने-विचारने और उसे व्यक्त करने की स्वधीनता मिलनी चाहिए, वैसे ही उसे खान-पान, वेशभूषा, विवाह-शादी, हर बात में स्वाधीनता मिलनी चाहिए, जब तक कि उससे दूसरों को हानि न पहुँचे।[२९७] बलपूर्वक सुधार की चेष्टा का फल यही होता है कि उससे सुधार की गति रुक जाती है। **किसी से ऐसा मत कहो कि 'तुम बुरे हो', वरन उससे यह कहो – 'तुम अच्छे हो, और भी अच्छे बनो।'** ... यदि तुम किसी को सिंह नहीं होने दोगे, तो वह धूर्त लोमड़ी हो जायेगा। स्त्री एक शक्ति है, परन्तु अब तक इस शक्ति का प्रयोग केवल बुरे विषयों में ही हो रहा है। इसका कारण यह है कि पुरुष स्त्रियों के ऊपर अत्याचार कर रहे हैं। आज स्त्रियाँ लोमड़ी के समान हैं, परन्तु जब उनके ऊपर अत्याचार बन्द हो जायेगा, तब वे सिंहिनी होकर खड़ी हो जायेंगी।[२९८]

सतीत्व और नारीजाति का अभ्युदय

हमें सिर्फ स्त्रियों को ही यह शिक्षा देनी है, वरन् अपने को भी शिक्षित करना है। केवल पुत्र-जन्म से ही पितृत्व नहीं हो जाता, उसका कर्तव्य-भार भी अपने कन्धों पर लेना पड़ता है। अब स्त्री-शिक्षा कैसी हो? प्रथम तो – हिन्दू स्त्री के लिए सतीत्व का अर्थ समझना सरल है, क्योंकि यह उसे विरासत में मिली है। अत: सर्वप्रथम, यह ज्वलन्त आदर्श उसके हृदय में सर्वोपरि रहे, जिससे वे इतनी दृढ़चरित्र बन जायँ कि चाहे विवाहित हों या कुमारी, जीवन की हर अवस्था में अपने सतीत्व से तिल भर भी डिगने की अपेक्षा, निडर होकर जीवन की आहुति दे सकें। किसी आदर्श की रक्षा हेतु अपने जीवन की भी बलि दे देना – यह क्या कम वीरता है? आज के युग की जरूरतें देखते हुए मुझे तो यह बड़ा आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ महिलाएँ संन्यस्त जीवन के आदर्शों में शिक्षित हों, आजन्म कौमार्य-व्रत धारण करें। आदि-काल से जिनकी नस-नस में सतीव्रत भरा है, उन भारतीय महिलाओं के लिए इसमें कोई कठिनाई नहीं है। साथ ही उन्हें विज्ञान तथा अन्य विषय भी सिखाये जायँ, जिससे केवल उनका ही नहीं, अन्य लोगों का भी हित हो। यह जानकर कि परोपकार

के लिए यह करना है। भारतीय नारी प्रसन्नता से और सहज ही कोई भी विषय सीख लेगी। हमारी मातृभूमि के उत्थान के लिए आज उसे ऐसे ही पुण्यसंकल्प पवित्रात्मा ब्रह्मचारियों तथा ब्रह्मचारिणियों की आवश्यकता है। ... स्त्रियों की हालत में सुधार हुए बिना भारत के कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी केवल एक पंख से नहीं उड़ सकता। इसी कारण रामकृष्ण-अवतार में 'स्त्री-गुरु' ग्रहण किया गया, इसीलिए उन्होंने स्त्री-भाव में साधना की, इसीलिये उन्होंने मातृभाव का प्रचार किया और इसीलिए मेरा प्रथम प्रयास स्त्रियों के लिये मठ स्थापित करने का है।[२९९] **जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न होते हैं** और जहाँ स्त्रियों का सम्मान नहीं होता, वे दुखी रहती हैं, उस परिवार या देश के उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। अत: पहले इन्हें उठाना होगा – इनके लिए एक आदर्श मठ स्थापित करना होगा।[३००]

आदर्श स्त्री-मठ की योजना

गंगाजी के उस पार एक विशाल भूखण्ड लिया जायेगा। उसमें अविवाहित कुमारियाँ तथा विधवा ब्रह्मचारिणियाँ भी रहेंगी। साथ ही गृहस्थों की भक्तिमती स्त्रियाँ भी बीच-बीच में आकर ठहर सकेंगी। इस मठ से पुरुषों का किसी तरह का सम्बन्ध न रहेगा। पुरुष-मठ के वृद्ध साधुगण दूर से स्त्री-मठ का काम चलायेंगे। स्त्री-मठ में बालिकाओं का एक स्कूल होगा। उसमें धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत, व्याकरण तथा थोड़ी-बहुत अँग्रेजी भी सिखायी जायेगी। सिलाई का काम, रसोई बनाना, घर-गृहस्थी के सभी नियम तथा शिशु-पालन के मोटे-मोटे विषयों की शिक्षा दी जायेगी। साथ ही जप, ध्यान, पूजा ये सब तो शिक्षा के अंग रहेंगे ही। जो स्त्रियाँ घर छोड़कर हमेशा के लिए यहीं रह सकेंगी, उनके भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जायेगा। जो ऐसा नहीं कर सकेंगी, वे मठ में दैनिक छात्राओं के रूप में आकर अध्ययन कर सकेंगी। सम्भव होने पर मठ के अध्यक्ष की अनुमति से वे यहाँ पर रहेंगी और जब तक रहेंगी, भोजन भी पा सकेंगी। स्त्रियों से ब्रह्मचर्य का पालन कराने हेतु वृद्धा ब्रह्मचारिणियाँ छात्राओं की शिक्षा का भार लेंगी। इस मठ में ५-६ वर्ष तक शिक्षा पाने के बाद बालिकाओं के अभिभावक उनका विवाह कर सकेंगे। अधिकारिणी समझी जानेवाली बालिकाएँ अभिभावकों की सम्मति लेकर चिर कौमार्य व्रत का पालन करती हुई वहाँ ठहर सकेंगी। जो बालिकाएँ चिर कौमार्य व्रत का अवलम्बन करेंगी, वे ही समय पर मठ की शिक्षिकाएँ तथा प्रचारिकाएँ बन जायेंगी और गाँव-गाँव, नगर-नगर में शिक्षा-केन्द्र खोलकर स्त्रियों की शिक्षा के विस्तार की चेष्टा करेंगी। चरित्रवान तथा धर्मभावयुक्त प्रचारिकाओं द्वारा देश में यथार्थ स्त्री-शिक्षा का प्रसार होगा। वे जितने दिन स्त्री-मठ के सम्पर्क में रहेंगी, उतने दिन ब्रह्मचर्य पालन करना इस मठ का अनिवार्य नियम होगा। धर्मपरायणता, त्याग और संयम यहाँ की छात्राओं के अलंकार होंगे और सेवा-धर्म उनके जीवन का व्रत होगा। इस प्रकार आदर्श जीवन को देखकर कौन उनका सम्मान न करेगा? कौन उन पर अविश्वास करेगा? देश की स्त्रियों का जीवन इस प्रकार गठित होने पर ही तो तुम्हारे देश में सीता, सावित्री, गार्गी का पुन: आविर्भाव हो सकेगा? देशाचार के घोर बन्धन से प्राणहीन, स्पन्दनहीन बनकर तुम्हारी लड़कियाँ कितनी दयनीय बन गयी हैं, यह तुम एक बार पाश्चात्य देशों में जाने से ही समझ जाओगे। स्त्रियों की इस दुर्दशा के लिए तुम्हीं लोग जिम्मेदार हो। देश की स्त्रियों को फिर से जाग्रत करने का भार तुम्हीं पर है। इसीलिए कहता हूँ – काम में लग जाओ।[३०१] लड़कियों के लिए गाँव-गाँव में पाठशालाएँ खोलकर उन्हें शिक्षित बनाओ। स्त्रियों के शिक्षित होने पर ही तो उनकी सन्तानों द्वारा देश का मुख उज्जवल होगा और देश में विद्या, ज्ञान, शक्ति, भक्ति जाग उठेगी।[३०२]

जो बातें पुरुषों से कहता हूँ, ठीक वे ही बातें इस देश की नारियों से भी कहूँगा। भारत में भारतीय धर्म में विश्वास करो। शक्तिशाली बनो, आशावान बनो और भारत में जन्म लेने के लिये लज्जित होने के स्थान पर गौरव का बोध करो, और याद रखो कि यदि हम बाहर से कोई वस्तु लेते हैं, तो संसार की किसी अन्य जाति की तुलना में हिन्दू के पास उसके बदले में देने को अनन्त गुना अधिक है।[३०३] मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ कि यदि भारत की नारियाँ देशी पोशाक पहने भारतीय ऋषियों के मुँह से निकले हुए धर्म का प्रचार करें, तो एक ऐसी बड़ी तरंग उठेगी, जो सारे पश्चिमी जगत् को डुबा देगी। क्या मैत्रेयी, खना, लीलावती, सावित्री और उभय-भारती की इस जन्मभूमि में किसी और नारी को यह करने का साहस नहीं होगा? प्रभु ही जानते हैं।[३०४]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

२८१. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) खण्ड १, पृ. ३१३; खण्ड ८, पृ. ३९४-९५; **२८२**. वही, खण्ड ६, पृ. ३८-३९; **२८३**. वही, खण्ड ४, पृ. २६८; **२८४**. वही, खण्ड ४, पृ. २६८; **२८५**. वही, खण्ड ४, पृ. २६७; **२८६**. वही, खण्ड ६, पृ. ४०; **२८७**. वही, खण्ड ५, पृ. १०८; खण्ड ६, पृ. ४०; **२८८**. खण्ड ६, पृ. १८६; **२८९**. वही, खण्ड ४, पृ. २६८; खण्ड ८, पृ. २७७; **२९०**. वही, खण्ड ६, पृ. ३७-८; **२९१**. वही, खण्ड ६, पृ. १८४; **२९२**. वही, खण्ड ८, पृ. २७८; **२९३**. वही, खण्ड ६, पृ. ३९; **२९४**. वही, खण्ड ६, पृ. ३९-४०; **२९५**. वही, खण्ड ८, पृ. २७७; खण्ड ६, पृ. ४०; **२९६**. वही, खण्ड २, पृ. ३२१; **२९७**.वही, खण्ड ३, पृ. ३३३; **२९८**. वही, खण्ड ७, पृ. ३०; **२९९**. वही, खण्ड ८, पृ. २७७; खण्ड ४, पृ. ३१; **३००**. वही, खण्ड ६, पृ. १८२; **३०१**. वही, खण्ड ६, पृ. १८३-४; **३०२**. वही, खण्ड ६, पृ. १८५; **३०३**. वही, खण्ड ४, पृ. २६९; **३०४**. वही, खण्ड ६, पृ. ३१३

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

प्रभु ने महर्षि वाल्मीकि से पूछा – मैं कहाँ निवास करूँ? महर्षि बोले – वैसे तो आप सर्वत्र निवास करते ही हैं, पर भक्तों का हृदय आपके के लिये सबसे उपयुक्त स्थान है। प्रश्न उठता है कि प्रभु के भक्त कौन हैं? उनके क्या लक्षण हैं? तो महर्षि प्रभु के समक्ष जिन चौदह स्थानों का वर्णन करते हैं, वे ही मानो चौदह प्रकार के भक्त हैं, जिनके हृदय में प्रभु श्रीसीता और लक्ष्मणजी के साथ निवास करते हैं।

संख्या की एक बाध्यता होती है। चाहे नौ प्रकार की भक्ति बताई जाय या चौदह प्रकार की, मूल तत्त्व एक ही है। और भक्ति में एक अद्‌भुत स्वतंत्रता है। मानस में एक वाक्य है – भक्ति समस्त गुणों की खान और स्वतंत्र है –

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। ७/४५/५

यह बड़ा विचित्र प्रतीत होता है। भक्ति स्वतंत्र है, तो क्या ज्ञान स्वतंत्र नहीं है, क्या वैराग्य स्वतंत्र नहीं है?

नहीं। ज्ञान की एक निश्चित परिभाषा है। ज्ञान उस सत्य के साक्षात्कार का एक सुनिश्चित मार्ग है। उसी पद्धति से चलकर ज्ञान और उसी से मोक्ष प्राप्त हो सकता है और ठीक वैसे ही कर्म के सन्दर्भ में भी एक निश्चित धारणा है, एक मान्यता है, उसके विधि-निषेध हैं। इसका अभिप्राय है कि उनमें एक-न-एक सीमा स्वीकार की जाती है।

परन्तु भक्ति में व्यक्ति को एक विस्तृत छूट दे दी गई है। वह छूट ज्ञान में और कर्म में भी नहीं है। कर्म में तो पग-पग पर नियमन है। उसमें नियम हैं – वस्त्र कैसा हो, आसन कैसा हो, उच्चारण कैसा हो? वह विधि-विधान से भरा हुआ है। परन्तु भक्ति की धारणा वस्तुत: व्यक्ति को स्वातंत्र्य की अनुभूति कराती है। इसमें आप जिस संस्कार में, जिस परिस्थिति में जिस देश-काल में स्थित हैं, उसी में भक्ति कर सकते हैं और भक्त हो सकते हैं। नौ और चौदह अंकों के माध्यम से इसी ओर संकेत किया गया है।

चौदह स्थानों में भी महर्षि सर्वप्रथम कथा-श्रवण करनेवाले भक्तों को बताते हैं, उन्हीं को सर्वाधिक महत्व देते हैं। कहते हैं – "जिनके कान समुद्र के समान हैं और आपकी विविध प्रकार की कथायें मानो नदियों के समान हैं। नदियाँ निरन्तर समुद्र में जाकर स्वयं को समर्पित करती हैं, विलीन करती हैं। कान-समुद्र निरन्तर कथा-जल का स्वागत करने के लिये, ग्रहण करने के लिये उतावले रहते हैं।"

इसके तात्पर्य को गोस्वामीजी ने अनेक रूपों में प्रस्तुत किया। जैसे आप यही देखिये कि यह कथा कहाँ कही गई, किस देश में कही गई, किस व्यक्ति के द्वारा कही गई, किस काल में कही गई? तो आपको क्या उत्तर मिलेगा?

गोस्वामीजी ने चार घटनाओं की कल्पना की। **पहली कथा** तो वह है, जो हिमालय के कैलाश-शिखर पर भगवान शंकर द्वारा कही गई और जिसे भगवती उमा ने बड़ी श्रद्धा और प्रीति के साथ श्रवण किया। **दूसरी कथा** सुमेरु पर्वत पर कह गयी। वहाँ के वक्ता हैं कामभुशुण्डि और श्रवण करने के लिये हंसों की, पक्षियों की भीड़ एकत्र है। फिर कथा का **तीसरा** स्थान है तीर्थराज प्रयाग, जहाँ गंगा-यमुना-सरस्वती का संगम है। वहाँ के वक्ता हैं याज्ञवल्क्य और श्रोता हैं भरद्वाज मुनि तथा अनेक आश्रमवासी। वहाँ उपस्थित सभी श्रद्धालु नर-नारी वह कथा श्रवण करते हैं। और **चौथी कथा** का स्थान गोस्वामीजी का मन और वक्ता वे स्वयं हैं और इस वक्ता ने किसी अन्य व्यक्ति को कथा न सुनाकर, अपने ही मन को श्रोता बनाकर सारी कथा कह डाली।

इससे क्या संकेत मिलता है? यही कि कैलाश का एक शिखर, सुमेरू पर्वत के चार शिखर और तीर्थराज प्रयाग शिखर पर नहीं, भूमि पर है। और भूमि पर होते हुए भी वहाँ त्रिवेणी संगम है। और गोस्वामीजी जब कथा सुनाते हैं, तो वे स्पष्ट कहते हैं कि मैं तो अपने मन को ही यह कथा सुना रहा हूँ। और प्रारम्भ में ही यह निवेदन कर देते हैं कि इस कथा की रचना किसी को उपदेश के लिये नहीं अपितु – अपने अन्त:करण के सुख के लिये की गयी है –

स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषा-निबन्ध-मति-मंजुलमातनोति ।। १/७

इससे क्या संकेत मिलता है? हिमालय के कैलाश शिखर पर भगवान शंकर भगवती पार्वती को कथा सुनाते हैं, वह शिखर ज्ञान तथा अद्वैत का है और इसके वक्ता भगवान शंकर हैं, जो भगवान श्रीरामभद्र से सर्वथा अभिन्न हैं –

सेवक स्वामि सखा सिय पी के ।। १/१५/४

ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर समासीन रहनेवाला भी कथा कह रहा है। और वहाँ श्रोताओं का प्रवेश इतना निषिद्ध है कि एकमात्र पार्वतीजी ही उसे श्रवण करने में सक्षम हैं। और भगवान शंकर ने तो न-जाने-कबसे इसकी रचना करके अपने हृदय में रख लिया था। इसका अभिप्राय यह है कि इसका आनन्द भगवान शिव अपने हृदय में ही अनुभव करते हैं। उपयुक्त श्रोता के अभाव में उन्होंने उस कथा को प्रगट नहीं किया था। यह कथा कितनी दुर्लभ है, इसका श्रोता कितनी कठनाई से मिलता है और इसे ग्रहण करना कितना कठिन है – इसका संकेत कैलाश शिखर पर प्राप्त होता है।

इस कथा में भी बड़ा विलक्षण क्रम है। उस क्रम को यदि आप विस्तार से पढ़ें, तो उसमें साधना-पथ का संकेत मिलेगा। सतीजी बड़ी बुद्धिमती हैं, पर वे कथा-श्रवण में सक्षम नहीं हैं, उसकी अधिकारिणी नहीं हैं। बुद्धिमत्ता के द्वारा ही यदि व्यक्ति कथा श्रवण करना चाहे, तो वह उसे ग्रहण नहीं कर सकेगा। जब तक उसके अन्त:करण में संशय-भ्रम तथा मोह हैं, तब तक वह कथा के तात्पर्य को सही-सही हृदयंगम नहीं कर सकेगा। इसका एक बड़ा सुन्दर संकेत मिलता है – जब लोमशजी कागभुशुण्डि को कथा सुना रहे थे, तो बाद में उन्हें क्रोध आ गया और उन्होंने भुशुण्डिजी को शाप दे दिया। गरुड़जी ने पूछा – लोमशजी जैसे महान् तत्त्वज्ञ आपको उपदेश दे रहे थे और आप इतने उत्कृष्ट अधिकारी हैं, तो भी मुनिजी को क्रोध क्यों आ गया?

भुशुण्डिजी की जगह यदि कोई हम जैसा श्रोता होता, तो कहता कि वे बड़े क्रोधी स्वभाव के थे। – क्या कहूँ, मैं तो बड़े आदरपूर्वक गया, पर वे बड़े क्रोधित हो गये। लेकिन भुशुण्डिजी ने उसका दोष लोमशजी को नहीं दिया। उन्होंने कहा – समस्या लोमशजी के कथन में नहीं थी, मुझमें थी। – क्या? – जब वे मुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश देने लगे, तो मैं उसे सुनते हुए अपने मन में ही तर्क-वितर्क कर रहा था। कुछ ऐसे भी श्रोता होते हैं, जिन्हें लगता है कि जो बात कही गई, यह सही नहीं है। तो आगे जो कहा जा रहा है, उसे वे सुनेंगे ही नहीं। वहाँ उलझन हो जाना स्वाभाविक है। यही भुशुण्डिजी की आत्म-समीक्षा है। उन्होंने कहा – मुनिजी मुझे उपदेश दे रहे थे कि वेद कहते हैं कि जल और उसकी तरंग के समान ही ब्रह्म तथा तुझमें कोई भेद नहीं है –

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।
बारि बीचि इव गावहिं बेदा।। ७/१११/६

लोमशजी बड़े क्रोधपूर्वक ज्ञान का निरूपण कर रहे थे और उसे सुनते हुए भुशुण्डिजी मन में तर्क-वितर्क कर रहे थे – बिना द्वैतबोध के क्रोध नहीं आ सकता और द्वैत अज्ञान का लक्षण है; जो जीव माया से परिच्छिन्न, उसके अधीन तथा जड़ है, वह क्या कभी ईश्वर-सदृश हो सकता है? –

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु
द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परिछिन्न जड़
जीव कि ईस समान।। ७/१११ (ख)
एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ।
मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ।। ७/११२/११

भुशुण्डिजी बोले – अपने मन में ऐसी ही न जाने कितनी युक्तियाँ मैं सोच रहा था। गुरुजी ने देखा कि मैं आदरपूर्वक श्रवण नहीं कर रहा हूँ और उसे देखकर उन्हें यत्किंचित् क्रोध आ गया, क्योंकि उन्हें लगा कि श्रोता को जितने आग्रह से मेरी बातें सुननी चाहिये, उतने आग्रह से नहीं सुन रहा है।

जैसे बच्चे बोलते हैं तो बुरा लग जाता है, क्षोभ उत्पन्न होता है कि यह क्या? यह कैसी बाधा? कोई श्रोता सामने बैठकर सोता दिखाई दे जाय, तो कथा कहनेवाले को बुरा लगेगा, क्रोध भी आ सकता है। वह वक्ता के स्वभाव पर निर्भर है, कभी वह कठोर शब्दों में आलोचना कर देता है। लोमशजी को बड़ा बुरा लगा कि मैं इतने महान् तत्त्वज्ञान को इतने प्रेम के साथ इस व्यक्ति को सुना रहा हूँ और इसका ध्यान कहाँ है? और तब उन्हें क्रोध आ गया।

जब तक हम सच्चे श्रोता नहीं बनते, तब तक कथा में, प्रवचन में या सत्संग में बैठकर भी हम उसका उचित लाभ नहीं ले सकते। कोई बुद्धिमान व्यक्ति बुद्धिमत्तापूर्वक सुनते हुए भी मन से सुन रहा है, बुद्धि से काट रहा है, तो उसे लाभ नहीं होगा। इसीलिये दक्षपुत्री सती बुद्धिमती होते हुए भी, कथा सुनते हुए भी, तर्क में उलझकर उसे न सुन सकीं और कथा का लाभ उनके जीवन में परिलक्षित नहीं हुआ। और उसके बाद उन्हें श्रोता बनने में बड़ा लम्बा समय लगा। इसमें सूत्र बड़ा ही दार्शनिक तथा सूक्ष्म है।

सती की समस्या यह है कि एक ओर तो वे दक्ष की पुत्री हैं और दूसरी ओर शंकर की पत्नी हैं। दक्ष चतुर हैं और शंकरजी साक्षात् विश्वास हैं। हम लोगों में ऐसे अनेक होंगे, जिनके अन्त:करण में बुद्धि और विश्वास का द्वन्द होता है। इस द्वन्द का अर्थ है – प्रत्येक बात को बुद्धि से समझने का प्रयास और साथ ही हम जानते हैं कि विश्वास के बिना काम नहीं चलता। यह अन्तर्द्वन्द आज के युग में बड़ा प्रबल है। अधिकांश लोग जानते हैं कि विश्वास के बिना जीवन चल ही नहीं सकता, पर डरते हैं कि लोग हमें अन्धविश्वासी न कहें। आज का यह बड़ा रोग हो गया है। समाचार-पत्रों में आता है – बुद्धिमानों की, वैज्ञानिकों की एक संस्था चेष्टा कर रही है कि सारे अन्धविश्वास को नष्ट कर दिया जाय। वे बेचारे बड़े वैज्ञानिक रीति से समझाते हैं कि साधु-महात्माओं के चमत्कार – सब पाखण्ड है, धोखा है और आप लोग व्यर्थ ही इन्हें महत्त्व देते हैं। ये बेचारे अपनी समझ के अनुसार लोगों को

अन्धविश्वासों से मुक्त करना चाहते हैं। एक सज्जन ने पूछा – इतना प्रयत्न करने पर भी ये लड़ाई में सफल क्यों नहीं हो रहे हैं? मैंने कहा – इनकी लड़ाई का इतना विस्तार हो गया कि इन्होंने केवल चमत्कारों से ही नहीं, ईश्वर तक से लड़ाई छेड़ दी। ईश्वर को मानना भी तो अन्धविश्वास ही है।

अन्धविश्वास किसे कहते हैं? – जो कुछ आपने नहीं देखा, उसे मानना। नेत्र का विश्वास अर्थात् जिसे देखा उसे माना। अन्धविश्वास का केन्द्र तो स्वयं ईश्वर है। ईश्वर उखड़े, तो अन्धविश्वास उखड़े। आपका मूल ही बड़ा जटिल है। इसलिये सच कहें तो अन्धविश्वास मूलत: व्यक्ति की प्रकृति है। इसका अर्थ यह नहीं कि जितना झूठ-पाखण्ड है, उन सबको आप सत्य माने, पर इसका तात्पर्य यह है कि जब आप ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं, तो ईश्वर अदृश्य होता है। आप उसे देख करके स्वीकार नहीं करते।

वर्तमान युग की समस्या यह है कि विज्ञान ने बड़े अद्भुत आविष्कार किये हैं, बड़े चमत्कार किये हैं और व्यक्ति के मन पर उनका बड़ा प्रबल प्रभाव है। वह उनको देख रहा है, उनका लाभ ले रहा है, उनका अनुभव कर रहा है और इसके परिणामस्वरूप वह सोचता है कि घर में हम भले ही अन्धविश्वास की सारी क्रियाएँ करें, पर बाहर कहीं हमें अन्धविश्वासी न मान लिया जाय। ऐसे बुद्धिमानों को भी मैंने देखा, जो मंच पर बुद्धि और तर्क की बात करते हैं, पर घर में उनकी सारी चेष्टाएँ परम्परागत होती हैं, जिनका बुद्धि और तर्क से कोई नाता नहीं होता। जब स्वयं को बुद्धिमान कहलाने का व्यामोह हो जायेगा, तो परिणामस्वरूप व्यक्ति निरन्तर यही सोचेगा कि यह बात हम कैसे मान लें!

सती की समस्या यही है। उन्होंने देखा कि श्रीराम सीताजी के वियोग में रो रहे हैं, लता-वृक्षों से उनका पता पूछ रहे हैं। उन्हें लगा कि यह कोई राजकुमार है, अपनी पत्नी से बड़ा प्रेम करता था। स्वर्णमृग के लोभ में उसने पत्नी को खो दिया और अब उसका अपनी बुद्धि पर कोई नियंत्रण नहीं रह गया है, पागलों की तरह लता-वृक्षों से अपनी प्रिया का पता पूछ रहा है। एक ओर उनकी तर्क-बुद्धि उन्हें एक दिशा में प्रेरणा देती है, तो दूसरी ओर उनके पतिदेव भाव में विभोर दिखाई देते हैं और उनका वह आनन्द उनके हृदय में ही न रहकर शब्दों में प्रगट हो जाता है – जय सच्चिदानन्द, हे विश्वपावन, आपको शत-शत नमन –

संभु समय तेहि रामहि देखा।
उपजा हियँ अति हरषु बिसेषा।।
जय सच्चिदानन्द जग पावन। १/५०/१,३

सतीजी की समस्या यह है कि वे भगवान शंकर को तो महान् मानती हैं। भगवान शंकर से उनका विवाह हुआ है। वे स्वयं को पतिव्रत धर्म में स्थित मानती हैं। शंकरजी को छोड़कर उनका कहीं कोई आकर्षण नहीं है। पर वही प्रश्न – मेरे पतिदेव महान् हैं, वे कह रहे हैं, जय सच्चिदानन्द, पर मैं कैसे मान लूँ? वही बुद्धिवाला तर्क – हाँ, यह तो मैंने देखा कि जगत्पूज्य वन्दनीय हमारे पतिदेव ने एक राजकुमार को प्रणाम किया और वह भी एक साधारण व्यक्ति के रूप में नहीं, अपितु 'जय सच्चिदानन्द' कहकर प्रणाम किया –

संकरु जगतबंद्य जगदीसा।
सुर नर मुनि सब नावत सीसा।।
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा।
कहि सच्चिदानंद परधामा।। १/५०/६-७

उनके मन में अन्तर्द्वन्द चल रहा है। उनका तर्क है कि ब्रह्म तो निर्गुण है, निराकार है, अजन्मा है, कलाओं से रहित है और भेदरहित है। वह निर्गुण-निराकार निष्कल ब्रह्म भला मनुष्य का शरीर कैसे धारण कर सकता है? –

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज
अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होई नर
जाहि न जानत बेद।। १/५०

तर्क कहता है कि ईश्वर है ही नहीं। इससे तो मूल ही समाप्त हो गया। सत्ता ही समाप्त हो गई। एक अन्य धारणा यह है कि ईश्वर है तो अवश्य, पर निर्गुण-निराकार-अज और अव्यक्त है। सतीजी कहती हैं – उस दृष्टि से निर्गुण-निराकार ब्रह्म का अवतार हो सकता है क्या? पर वे यह कथा जानती हैं कि भगवान विष्णु अवतार लेते हैं, तो उन्होंने कहा – यह राजकुमार निर्गुण, निराकार, आज, अव्यक्त तो है नहीं, पर मान लें कि विष्णु ने अवतार लिया है तो फिर वह तर्क शुरू हो गया – विष्णु स्वयं शरीरधारी हैं और वे सगुण रूप में माने जाते हैं और वे देवताओं की रक्षा के लिये अवतार लेते हैं। पर हमारे पतिदेव जितने सर्वज्ञ हैं, उतने विष्णु भी सर्वज्ञ हैं। और यदि सर्वज्ञ हैं, तो मान लें ब्रह्म के नहीं, विष्णु के अवतार हैं; तो फिर इतनी नासमझी के साथ लता-वृक्षों से रो-रोकर जो पूछ रहा है, क्या यही सर्वज्ञता का लक्षण है?

बिष्नु जो सुरहित नर तनु धारी।
सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी।।
खोजइ सो कि अग्य इव नारी।
ग्यानधाम श्रीपति असुरारी।। १/५१/१-२

तब इधर ध्यान आया – भगवान शंकर बड़े महान् हैं, वन्दनीय हैं, श्रेष्ठ हैं और विष्णु भी वन्दनीय हैं, पर इस राजकुमार में विष्णु का भी कोई लक्षण नहीं है। यही है बुद्धि और विश्वास का अन्तर्द्वन्द। यह आज के युग की बहुत बड़ी समस्या है। अन्त:करण में कई बातें उठती हैं। **एक बात कहें तो बुद्धिमान लोग कहेंगे कि मूर्ख है और दूसरी बात कहें तो विश्वासी लोग कहेंगे कि यह नास्तिक है।** लगने

लगता है कि क्या कहें और क्या न कहें? सतीजी के हृदय में द्वन्द होते हुए भी शंकरजी के सामने उसे प्रगट करने में उन्हें संकोच लग रहा है। वे सोचने लगीं – क्या इसे शंकरजी से कहना उचित होगा? वे कह सकते हैं कि मेरी पत्नी होकर, मेरा स्वरूप जानते हुए भी, यदि मैं इन्हें प्रणाम कर रहा हूँ, तो क्या तुम्हें विश्वास नहीं है?

तर्क-वितर्क – बुद्धि और विश्वास का अन्तर्द्वन्द्व सती को व्याकुल किये हुए है। भगवान शंकर तो अन्तर्यामी हैं। सती के न कहने पर भी उन्होंने सोचा – यह रोग अन्त:करण में पनपना अच्छा नहीं है। जैसे किसी व्यक्ति को कोई रोग हो जाय और यदि वह किसी को बताये न। कई रोग ऐसे होते हैं, जिन्हें बताने में व्यक्ति को संकोच नहीं होता और कई रोग ऐसे होते हैं, जिन्हें बताने में व्यक्ति संकोच करता है। सतीजी को लग रहा है कि शंकरजी से संशय की बात कहना उचित नहीं होगा। न जाने ये मुझे क्या समझेंगे। तब शंकरजी स्वयं बोले – देवी, छिपाना नारी का स्वभाव है।

इसे निन्दा मत समझ लिजियेगा। आज के श्रोता और नारीवर्ग इतने संवेदनशील हो गये हैं कि न जाने किस बात का क्या अर्थ ले लें और क्या प्रतिक्रिया कर बैठें। लोग कहते हैं – देखिये, गोस्वामीजी की धारणा कैसी है! शंकरजी ने कह दिया – सती, तुम्हारा तो नारी-स्वभाव है –

सुनहि सती तव नारि सुभाऊ ।। १/५१/६

क्या यह नारी की निन्दा है? छिपाना गुण भी है और दोष भी। नारी की प्रकृति में जो गोपन है, गोस्वामीजी उसी का संकेत पुष्प-वाटिका में भी देते हैं। भगवान राम और जनक-नन्दिनी सीता – दोनों के अन्त:करण में अनुराग का रस है, अद्वैत होते हुए भी उन्होंने द्वैत को स्वीकार किया है। परस्पर प्रीति की पराकष्ठा है। पर दोनों में एक अन्तर है। श्रीराम ने जो अनुभव किया, उसे उन्होंने बिल्कुल सहज भाव से लक्ष्मण को सुना दिया। कहीं कुछ भी नहीं रखा, स्पष्ट कह दिया, ये जनकनन्दिनी सीता हैं, जिनकी सुन्दरता देखकर मेरे मन में क्षोभ हो गया है, मैं नहीं समझ पाता कि ऐसा क्यों हुआ। और जब पुष्पवाटिका से लौट करके आये, तो बिना पूछे ही उन्होंने महर्षि विश्वामित्र से सब कह दिया –

राम कहा सब कौसिक पाहीं ।

अब सीताजी की क्या स्थिति है? नारी का वस्त्र उसका आभूषण है और उसे लज्जा, संकोच या शील को प्रकट करने के लिये उपयोग किया जाता है। यद्यपि आजकल ये मान्यताएँ पुरानी पड़ गयी हैं, पर प्राचीन युग में इन्हें श्रेष्ठ गुण माना जाता था। सीताजी के प्रसंग में भी प्रारम्भ कथा से ही होता है, उन्होंने भी भगवान राम की कथा सुनी। वे देवी पार्वती का पूजन करने के लिये उसी बाग में आई हुई हैं, जिसमें श्रीराम फूल चुनने आये हैं। जब सखियों के साथ सीताजी पूजन कर रही थीं, तो एक सखी उसमें सम्मिलित न होकर वाटिका में चली गई और वहाँ श्रीराम और लक्ष्मण का दर्शन किया। लगता है उस सखी का पूजा-पाठ में विश्वास नहीं था, क्योंकि सीताजी सखियों के साथ पूजन कर रही हैं और वह बाग में घूम रही है। पर उसके भाव में बड़ी मधुरता है। उसके पूजा में सम्मिलित न होने का एक कारण था।

एक दिन इसी बाग में देवर्षि नारद आये। जनकनन्दिनी सीता उस समय बाग में थीं। जब उन्होंने देवर्षि नारद के चरणों में प्रणाम किया, तो देवर्षि ने आशीर्वाद दिया – "पुत्री, इस बाग में जिसका दर्शन करके तुम्हारे हृदय में प्रीति और अनुराग का उदय होगा, वही तुम्हारे पति होंगे।" तो जो सखी पूजा में सम्मिलित नहीं हुई थी, ऐसी बात नहीं कि उसका पूजा में श्रद्धा-विश्वास न रहा हो, बल्कि उसे तो सन्त की वाणी में अधिक विश्वास है। दिन बीतते जा रहे हैं और देवर्षि की वाणी तो असत्य नहीं हो सकती ! इसलिये पूजन की अपेक्षा उसको सन्त की वाणी पर अधिक श्रद्धा है। और इस श्रद्धा का फल भी पूजन से अधिक उसे तब मिला, जब उसने बाग में जाकर दोनों भाइयों को देखा –

तेहिं दोउ बंधु बिलोके जाई ।। १/२२८/८

उस सखी को दर्शन हुआ और उसे लगा कि सचमुच, ये ही हो सकते हैं। सोचती है – यह सूचना मैं जाकर किशोरी जी को दे दूँ। सीताजी पूजन करके सखियों के साथ निकल रही हैं और वह सखी आती है। उसकी दशा बड़ी अनोखी है। आँखों में प्रेम के आँसू हैं और शरीर शिथिल हो रहा है। सखियों ने पूछा – यह तुम्हें क्या हो गया है? उसने संक्षेप में कथा सुनाई – दो राजकुमार वाटिका देखने आये हैं, किशोर हैं, सब प्रकार से सुन्दर हैं, एक साँवले और दूसरे गोरे हैं, उनके सौन्दर्य का वर्णन करना असम्भव है, क्योंकि वाणी के पास नेत्र नहीं हैं और नेत्रों के पास वाणी का अभाव है –

देखन बागु कुअँर दुइ आए ।
बय किसोर सब भाँति सुहाए ।।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी ।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।।
सुनि हरषीं सब सखी सयानी ।
सिय हियँ अति उत्कंठा जानी ।। १/२२९/१-३

वर्णन सुनकर सखियों को बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने उसे वाणी से प्रगट भी किया। लेकिन सीताजी की स्थिति क्या है? सखियों ने देखा कि सीताजी तो बोल ही नहीं रही हैं, उनके हृदय में दर्शन की उत्कण्ठा जाग गई है।

सीताजी अपने हृदय का भाव प्रगट नहीं करना चाहती। यह नहीं कहतीं कि वे भी उस राजकुमार का दर्शन करना चाहती हैं। सखियों ने देखा कि इनके हृदय में उत्कण्ठा है, पर अपने शील-संकोच के कारण ये स्पष्ट नहीं कह सकेंगी

और इस कारण दर्शन भी नहीं हो सकेगा। इसलिये सीताजी के संकोच को मिटाने के लिये एक सखी ने उन्हें सुनाते हुए कहा – हाँ, हाँ, मैंने इन दोनों राजकुमारों के विषय में सुना है। ये ही दोनों राजकुमार मुनि विश्वामित्र के साथ आये हैं –

एक कहइ नृपसुत तेइ आली ।
सुने जे मुनि सँग आये काली ।। १/२२९/४

एक समस्या हो सकती है, उसका समाधान सखी दे रही है – यदि ये केवल राजकुमार होते, तो मैं नहीं कहती कि हमें जाना चाहिये, पर ये साधारण राजकुमार नहीं लगते। इन्हें महर्षि विश्वामित्र जैसे महान् त्यागी लेकर आये हैं। यदि साधारण राजकुमार होते, तो साथ में विश्वामित्रजी कैसे आते? थोड़ा संकेत और भी है। – क्या? बोली – जनकपुर के सारे नर-नारी इनके सौन्दर्य को देखकर इनके वश में हो गये हैं –

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी ।
कीन्हे स्वबस नगर नर नारी ।। १/२२९/५

मानो चिन्ता की बात नहीं है, जब सभी बस में हो गये हैं, तो हमारे भी होने में आपत्ति की क्या बात? और साथ ही यह भी कहा – आज भले ही हमें बातचीत का अवसर नहीं मिला, पर जनकपुर में तो आजकल वेदान्त की चर्चा कम हो गई है। – तो कौन-सी चर्चा हो रही है? बोली – जहाँ देखो, जनकपुर की सड़कों पर, चौराहों पर, जहाँ भी लोग बैठे हैं, यही चर्चा हो रही है कि दो अद्वितीय, अद्भुत राजकुमार मुनि विश्वामित्र के साथ आये हुए हैं। सीताजी के सामने जो मर्यादा का एक भय है, जो लोकनिन्दा का भय है, उसके निराकरण हेतु वह बोली – सारे नगरवासी इनके सौन्दर्य की चर्चा कर रहे हैं। इसका परिणाम क्या हुआ? जब सब सखियों ने एक स्वर में कहा – जिनका ऐसा वर्णन सुन रहे हैं, वे आये हुए हैं और हम वंचित रह जायें, यह तो बड़ा दुर्भाग्य होगा, अत: उन्हें अवश्य देखना चाहिये –

बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू ।
अवसि देखिअहिं देखन जोगू ।। १/२२९/६

तो भी सीताजी अपने भावों को छिपाती हैं। नारी में छिपाने का एक रूप वह है, जो जनकनन्दिनी सीताजी में है। सीताजी यह नहीं कहतीं – हाँ, मैं भी दर्शन करना चाहती हूँ। इतना ही नहीं, सखी उनके मौन को देखकर अपनी ओर से कहती है – चलें? सीताजी चलती हैं, पर बिना बोले ही उन्होंने उसी सखी को आगे कर लिया। मानो परम्परा बदल गई। अब तक सीताजी आगे और सखियाँ पीछे चलती थीं, पर अब उस सखी को आगे कर दिया। – क्यों?

गोस्वामीजी कहते हैं – सत्य तो यह है कि इन दोनों का सम्बन्ध अनादि काल से है, पर लोक में तो ऐसा ज्ञात नहीं है। सीताजी को लगा कि यदि मैं आगे चलकर वहाँ पहुँच जाऊँ, जहाँ श्रीराम हैं, तो सखियों को लगेगा कि आपको कैसे पता था कि ये यहाँ पर हैं? सावधान हैं कि हमारे पुराने प्रेम को कोई देख न ले। सखी से कहती हैं – मैं तो जानती नहीं, तुम्हीं ने देखा है, तुम्हीं मार्ग दिखाओ –

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई ।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई ।। १/२२९/८

इसका अभिप्राय क्या है? प्रेम तो छिपाने की ही वस्तु है और संशय प्रकट करने की। सतीजी ने संशय को छिपाया और किशोरीजी ने प्रेम को।

प्रेम के रसिकों ने कहा है – जैसे दीपक यदि बाहर हवा में ले जायें तो बुझ जाता है, वैसे ही प्रेम का दीपक जब तक हृदय में रहता है, तब तक अचल रहता है; पर जब वह वाणी के दरवाजे से बाहर निकल जाय, तब वह प्रेम-दीपक या तो बुझ जायेगा या उसका प्रकाश कम हो जायेगा –

प्रेम-अद्वयो रसिकयेव रसे रसेव हृदि भासयति ...
निर्वाति दीपम् अथवा लघुताम् उपैति ।।

सीताजी कुछ बोलती नहीं, सखी को आगे करके चलती हैं। और सखी ने ले जाकर कहा – मैंने यहीं तो देखा था। सीताजी चारों ओर देख रहीं हैं, पर सखी से अपनी चिन्ता कह भी नहीं पातीं कि तुमने तो कहा था यहाँ हैं, पर कहाँ हैं? बस, व्याकुल होकर चारों ओर देख रही हैं –

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता ।
कहँ गये नृप किसोर मनु चिंता ।। १/२३२/१

और तब सखियों ने श्रीराम को लताओं में खड़े देख लिया और सीताजी से कहा – वह देखिये –

लता ओट तब सखिन्ह लखाए ।। १/२३२/३

और देखने के बाद सीताजी अपने नेत्र मूँद लेती हैं।

सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं । १/२३७/२

श्रीराम ने अपने हृदय की भावनाओं को गुरुदेव तथा लक्ष्मण के सामने स्पष्ट रूप से प्रगट कर दिया और सीताजी ने अपने हृदय का भाव शब्दों में प्रकट नहीं किया। गोस्वामीजी ने श्रीराम को उपाधि दे दी – बड़े 'सरल-स्वभाव' हैं। तो क्या सीताजी सरल नहीं हैं? फिर तो बड़ी निन्दा हो जायेगी। श्रीराम प्रगट कर देते हैं, क्योंकि बड़े सरल-स्वभाव हैं, पर सीताजी ने अपने भाव जरा भी प्रकट नहीं किये। इन्हें आप क्या उपाधि देंगे? गोस्वामीजी बड़े ही मधुर शब्दों में बोले – सयानी जानकीजी ने नेत्रों के मार्ग से श्रीराम को हृदय में प्रविष्ट कराया और पलक-रूपी द्वार बन्द कर लिये –

लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हें पलक कपाट सयानी ।। १/२३२/७

श्रीराम 'सरल' और सीताजी 'सयानी' हैं। दोनों गुण हैं और पति-पत्नी में भिन्न-भिन्न गुण होना जरूरी है। दोनों ही सरल या दोनों ही सयाने हो जायें, तो बड़ी समस्याएँ पैदा हो जाय। ब्रह्म सरल और महामाया आदिशक्ति सयानी ही हैं।

सीताजी नेत्र मूँदे खड़ी हैं और उनका यह गोपन है। श्रीराम लताकुंज से बाहर आये। अब सखियाँ चाहती हैं कि सीताजी दर्शन करें। वे कह सकती थीं – अरे, हम जिनका दर्शन करने आयी थीं, वे सामने हैं और आप आँखें मूँद रही हैं? पर सखियों ने सोचा कि यदि ये छिपाना ही चाहती हैं, तो इन्हें संकोच में क्यों डालें? तो एक सखी ने दूसरी से कहा – सखी, आप तो पूजा के भाव में इतनी डूबी हैं कि पार्वतीजी का पूजन करने के बाद यहाँ भी उन्हीं का ध्यान कर रही हैं। यह नहीं कहा कि आप हृदय में श्रीराम का ध्यान कर रही हैं। बड़े मीठे स्वर में बोली – ठीक है, पार्वतीजी पर बड़ी भक्ति है, तो उनका ध्यान बाद में कर लेना, यहाँ तक आ गये हैं और राजकुमार सामने हैं, तो जरा उनको भी देख लीजिए। तो भी सीताजी ने बड़े संकोचपूर्वक नेत्र खोले और सामने खड़े रघुकुल के दोनों सिंहों को देखा –

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।
भूपकिसोर देखि किन लेहू।।
सकुचि सीयँ तब नयन उघारे।
सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे।। १/२३४/२-३

दर्शन होता है और सखी भी वर्णन करती हैं – सिर पर सुन्दर मोरपंख सुशोभित हो रहे हैं, बीच-बीच में कलियों के गुच्छे हैं, मस्तक पर तिलक तथा पसीने की बूँदें शोभित हो रही और कानों से आभूषण लटक रहे हैं –

मोरपंख सिर सोहत नीके।
गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के।।
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाये।
श्रवन सुभग भूषन छबि छाए।। १/२३३/२-३

श्रीराम के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर भी सीताजी मौन हैं। किसी भी शब्द का प्राकट्य नहीं है। दर्शन की पराकष्ठा में, रस प्लावित होने पर भी वे उसे किसी भी सखी के सामने प्रगट नहीं करतीं। और तब सखी के सामने समस्या आती है। पहले तो सखियों ने दर्शन करने के लिये आने की प्रेरणा दी थी, पर अब उन्हें भय लग रहा है कि माँ सुनैना पूछेंगी कि पूजन में कभी इतना विलम्ब नहीं हुआ था, आज इतनी देर कैसे हो गई। यदि वे सीताजी से कहें कि अब दर्शन छोड़िये, जिस रस में डूबी हैं, उससे अलग होकर घर चलिये, तब भी तो बड़ा अनर्थ होगा। इन्हें कितनी चोट लगेगी? पहले तो ले आईं और अब कहती हैं कि घर चलिये।

परन्तु यदि सीताजी सयानी हैं, तो सखियाँ भी कम नहीं हैं। उनके लिये भी गोस्वामीजी ने यही उपमा दी। राम सरल और लक्ष्मण उनसे भी सरल हैं। वे तो जो मन में हो, कठोर भी हो, तो उसे कहने के अभ्यस्त हैं। और सीताजी यदि सयानी हैं, तो उनकी सारी सखियाँ भी बड़ी सयानी हैं –

संग सखी सब सुभग सयानी।। १/२२८/३

तो सखियों ने अपना सयानापन कैसे दिखाया? अशिष्ट और स्पष्टभाषी होतीं तो कह देतीं – ''वाह, आपको ध्यान नहीं है, माँ क्या कहेंगी? आप विलम्ब कर रही हैं, जल्दी कीजिये।'' लेकिन एक सयानी सखी सीताजी का हाथ पकड़कर कितने सुन्दर शब्दों का प्रयोग करती हैं – ''कल फिर इसी समय हम लोग आयेंगे। कल भी तो ये यहाँ रहेंगे, कल भी तो गुरुजी के पूजन हेतु फूल लेने यहाँ आयेंगे।'' उन्होंने वियोग नहीं, संयोग और दर्शन का आश्वासन दिया –

पुनि आउब एहि बेरिआँ काली।
अस कहि मन बिहसी एक आली।। १/२३४/६

कितनी सन्तुलित शब्दावली है। सीताजी की दशा ऐसी हो रही है कि सखी को हँसी आ रही है। और सखी मन-ही-मन खूब हँसी। जोर से नहीं हँसती है। क्या दशा हो रही है और बोल नहीं रही हैं। अद्‍भुत है यह प्रेमरस! कितनी विलक्षण है इसकी बहिरंग मर्यादा! लोकमत और मर्यादा सबकी रक्षा करना और दूसरी ओर हृदय में इतना प्रगाढ़तम प्रेम! सीताजी शब्द-संकेत से सब समझ जाती हैं। और फिर वे चलकर पार्वतीजी के मन्दिर में जाती हैं, पर पार्वतीजी से भी वही छिपाव। वे पार्वतीजी से प्रार्थना कर रही हैं –

जय जय गिरिबरराज किसोरी।
जय महेस मुख चंद चकोरी।।
जय गजबदन षडानन माता।
जगत जननि दामिनी दुति गाता।।
नहिं तव आदि मध्य अवसाना।
अमित प्रभाउ बेदु नहिं जाना।
भव भव विभव पराभव कारिनि
बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि।
पतिदेवता सुतीय महुँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष।।१/२३५

सीताजी के मन में जो हुआ है, जो भाव आया है, उसे कह सकती हैं; पर फिर वही बात! सखियों के सामने कहने में संकोच लगता है। अत: उन्होंने बड़ी विलक्षण भाषा का प्रयोग किया – अब आपको क्या बताऊँ! आप तो सदा सबके हृदय में निवास करती हैं, इसलिये मेरे हृदय की बात भी आप जानती हैं। और वैदेही ने उनके चरण पकड़ लिये –

बसहु सदा उर पुर सबही कें।
कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेहीं।
अस कहि चरन गहे बैदेहीं।। १/२३६/४

तब पार्वतीजी विनय और प्रेम के वशीभूत हो गईं, उनके गले की माला गिर पड़ी और उनकी मूर्ति मुस्कुराने लगी –

बिनय प्रेम बस भई भवानी।
खसी माल मूरति मुसुकानी।। १/२३६/५

❖ (क्रमश:) ❖

विजय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है (६)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(श्री संत गजानन संस्थान अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द जी पिछले कई वर्षों से वहाँ के विद्यार्थियों के मध्य व्याख्यान देने जाते रहे हैं। कभी-कभी उन्होंने वहाँ के विद्यार्थीयों केलिये अंग्रजी भाषा में व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी कार्यशालाएँ भी आयोजित की थीं, जिनमें दिये गये कुछ व्याख्यानों को उक्त महाद्यिालय ने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। उन्हीं में से एक पुस्तिका "Born to Win" का रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, के ब्रह्मचारी जगदीश ने 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हिन्दी में अनुवाद किया है। - सं.)

हम स्वयं के प्रति प्रामाणिक बनें

हमने अभी देखा कि हमें अपने भीतर विद्यमान अनन्त शक्ति के द्वार को खोलना है। यह सत्य है कि हम सब में अनन्त शक्ति का स्रोत विद्यमान है, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि इस शक्ति का जागरण हमें अपने व्यक्तिगत स्वभाव एवं चरित्रगत विशेषताओं के अनुरूप करना होगा।

शक्ति के जागरण की यह निजता एक ओर भगवान बुद्ध को जन्म देती है, तो दूसरी ओर भगवत्पाद आचार्य शंकर को। इसमें रत्ती भर भी संदेह नहीं कि दोनों ही महान् थे। जहाँ तक शक्ति-स्रोत का संबंध है उसमें कोई भिन्नता नहीं थी, किन्तु जहाँ महानता की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, तो भगवान बुद्ध में अभिव्यक्त महानता, आचार्य शंकर की महानता से भिन्न थी। यह तुलना का विषय नहीं है और न ही इसका यह अर्थ है कि उनमें से कोई कम या कोई अधिक थे। वे दोनों ही महान् थे, लेकिन उनके जीवन में महानता की अभिव्यक्ति के आयाम भिन्न थे, क्योंकि उनका व्यक्तित्व भिन्न था और उनकी निजता में भेद था।

अपने प्रति प्रामाणिक बनने का अर्थ यह है कि हम आत्म-निरीक्षण करें तथा अपने अच्छे एवं बुरे गुणों की जानकारी प्राप्त करें। आइए, हम अपनी चरित्रगत विशेषताओं का पता लगायें, अपनी पसंद-नापसंद को जानें तथा जीवन में उच्च आदर्शों हेतु अपने स्वभावगत रूझान का पता करें, और तब स्वयं का मूल्यांकन करें। अपनी अंतस्थ महानता की अभिव्यक्ति में यह स्व-मूल्यांकन अत्यन्त आवश्यक है।

अपने भीतर की अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति हेतु एवं महानता को उपलब्ध करने में प्रत्येक व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

इस क्षेत्र में हमें किसी अन्य व्यक्ति का अनुकरण नहीं करना चाहिए। एक महापुरुष ने कहा, "अनुकरण आत्महत्या है।" दूसरों का अनुकरण कर के हम अपने व्यक्तित्व के उन स्वाभाविक प्रवाह-मार्गों को अवरुद्ध कर देते हैं, जिनसे होकर व्यक्ति की महानता अभिव्यक्त हो सकती थी। देर-सबेर नकलची का प्रवाह-मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, क्योंकि उसका स्वयं अपना कोई आधार नहीं होता है तथा उसने अपने प्रवाह-मार्गों को अंतस्थ अनन्त शक्ति स्रोत से संयुक्त नहीं किया है।

अतः जीवन-संघर्ष में विजय-प्राप्ति हेतु यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम स्वयं के प्रति प्रामाणिक हों।

वर्तमान में जियें

जीवन सतत गतिमान प्रक्रिया है। उसमें विकास एवं विस्तार द्वारा परम सत्य को उपलब्ध करने की अनंत सम्भावनायें हैं। किन्तु स्मरण रहे, वर्तमान में वह एक सम्भावना मात्र है, कोई उपलब्धि नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने भीतर वर्तमान में प्रसुप्त महानता की सम्भावना को अपने-अपने ढंग से क्रियान्वित करना होगा। स्वामी विवेकानन्द ने कहीं कहा है, "मनुष्य निम्न सत्य से उच्चतर सत्य की ओर यात्रा करता है, न कि असत्य से सत्य की ओर।"

वर्तमान उस सीढ़ी का प्रथम सोपान है, जो एक दिन हमें परम सत्य तक पहुँचाएगा। परम सत्य की यात्रा वर्तमान में प्रारम्भ होती है। अतः जीवन-संघर्ष में परम विजय की प्राप्ति इस बात पर निर्भर करती है कि हम वर्तमान का कितना अच्छा उपयोग करते हैं, क्योंकि केवल यही एक बात हमारे वश एवं शक्ति में है। भूतकाल हमेशा के लिए बीत गया है। भूतकाल अच्छा था अथवा बुरा, यह महत्वपूर्ण नहीं है। अधिक-से-अधिक भूतकाल हमें वर्तमान का अच्छा उपयोग करने हेतु कुछ शिक्षा दे सकता है।

उसी तरह भविष्य आशा एवं कल्पना मात्र है। कोई भी उसके विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। ऐसा भी सम्भव है कि हमारी आशा एवं कल्पना पूरी हो जाये अथवा वह अवसर ही जीवन में न आये। इसका अर्थ हुआ, भविष्य अनिश्चित है। केवल एक ही निश्चित, जिस पर हमारा वश है, और वह है - वर्तमान। वर्तमान ही वह सुदृढ़ नींव है, जिस पर हमारी सफलता की अट्टालिका खड़ी हो सकती है। अतः

हमें अपने वर्तमान का समुचित उपयोग करना चाहिए। जीवन-संघर्ष में विजय-प्राप्ति हेतु, हमें वर्तमान में कठोर प्रयत्न करना होगा। विजय की आकांक्षा को पूर्ण करने हेतु, हमें वर्तमान में हमसे जो कुछ भी सम्भव है, उसे करने का प्रयास करना चाहिए।

वर्तमान में जीने का क्या अर्थ है? वर्तमान में जीने का अर्थ है - उन सभी विचारों एवं क्रियाओं से निवृत होना जो महत् जीवन की प्राप्ति में बाधक हैं और हमें हानि पहुँचा रहे हैं। कोई भी विचार अथवा क्रिया जो हमारे परम उद्देश्य की प्राप्ति के अनुकूल नहीं है, उसे निर्ममता-पूर्वक त्याग दी जानी चाहिए और यह कार्य केवल वर्तमान में किया जा सकता है। हमें इस कार्य को कभी भविष्य के लिए स्थगित नहीं करना चाहिए, अन्यथा हम वर्तमान में ही पराजित हो जायेंगे।

केवल श्रेष्ठ विचारों एवं क्रियाओं का ही, वर्तमान में पोषण एवं संवर्धन किया जाना चाहिए, जिससे वे हमें अधिकाधिक शक्ति प्रदान करें। यह हमें सभी अंतः एवं बाह्य परिस्थितियों में धैर्य-धारण की क्षमता एवं शक्ति प्रदान करता है तथा अंततः हम जीवन के परम संघर्ष में विजय-प्राप्ति हेतु यथेष्ट शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। हमारे पास केवल वर्तमान ही है, वही एकमात्र अवसर है। इसलिए आइए, हम प्रतिदिन, सभी प्रकार से, वर्तमान की परिधि में उपलब्ध समय एवं शक्ति के सुनियोजन में जुटें।

निश्चयात्मक बनें

वर्तमान में जीने हेतु आवश्यक है कि हम इस बात को निश्चयपूर्वक जानें कि हम जीवन में चाहते क्या हैं? जीवन से चाहते क्या हैं? इसका अर्थ है - हमारे जीवन का उद्देश्य हमारे मनश्चक्षुओं के सामने स्फटिकवत् स्पष्ट होना चाहिए। जब तक यह शर्त पूरी नहीं की जाती है, तब तक वर्तमान में जीने का अभ्यास असंभव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य हो जायेगा। क्योंकि वर्तमान में सम्पादित विचार एवं क्रियायें ही तो हमारे जीवन-लक्ष्य की ओर हमें अग्रसर करने वाली हैं, अतः उन्हें लक्ष्य के अनुकूल ही होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो हमारे विचार एवं क्रियाएँ हमें सन्मार्ग से विपथगामी कर भटकाती फिरेंगी, जैसा कि एक अनजाने सागर में बिना पतवार की नौका की गति होती है।

क्योंकि हमारे भीतर शक्ति है और यह निष्क्रिय एवं रुद्ध नहीं रह सकती, अतः यदि उसे एक निश्चित एवं उद्देश्यपूर्ण दिशा प्रदान न की जाय तो वह अवांछित एवं अनचाही दिशा में प्रवाहित होगी ही।

इसका अर्थ हुआ हमारा जीवन उद्देश्यपूर्ण होना चाहिए। जैसा कि हमने देखा है - जीवन-संघर्ष में विजय-प्राप्ति हेतु हमारे जीवन का एक सर्वोच्च लक्ष्य होना चाहिए। इस उद्देश्य को पूर्ण करने हेतु हमें विभिन्न छोटे-छोटे लक्ष्यों की सहायता लेनी चाहिए, जो सीढ़ी के अनेक सोपानों की तरह काम करें, और अंततः हमारे जीवन-लक्ष्य के उत्तुंग शिखर की प्राप्ति में सहायक हों। ये छोटे-छोटे लक्ष्य, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को, जो जीवन-संघर्ष में विजय का आकांक्षी है, अपने इन छोटे-छोटे लक्ष्यों का एक (खाका) बना लेना चाहिए, जिन्हें वह दैनन्दिन जीवन में उपलब्ध करता हुआ अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके। यहाँ पर वर्तमान में जीने की आवश्यकता का महत्व सामने आता है। हमारे पास जीवन के प्रत्येक दिन के लिए एक लक्ष्य होना चाहिए। फिर दिन भर के उस लक्ष्य को घण्टों के हिसाब से बाँट लिया जाना चाहिए तथा जैसा कि हम जानते हैं - घण्टे, मिनटों से बनते हैं। अतः परम विजय के आकांक्षी प्रत्येक व्यक्ति को अपने दैनन्दिन जीवन में मिनट-दर-मिनट सम्पादित किये जाने वाले कार्य की जानकारी होनी चाहिए।

इस हेतु दिनभर के कार्य की एक विस्तृत योजना बना लेना चाहिए। विजेता को निःशंक रूप से यह ज्ञात होना चाहिए कि उस दिन विशेष में, उस घण्टे में मिनट-दर-मिनट, कौन-कौन से कार्य लक्ष्य में विजय-प्राप्ति हेतु उसे करने हैं। अंतिम लक्ष्य केवल तभी प्राप्त किया जा सकेगा, जब हम प्रत्येक घण्टे का लक्ष्य प्राप्त करें और क्रमानुसार, प्रत्येक दिन का, प्रत्येक सप्ताह का, प्रत्येक माह का, प्रत्येक वर्ष का, वर्षों का, लक्ष्य प्राप्त करते चलें, जो हमें अंततः जीवन-संघर्ष में परम विजय देगा। यह केवल वर्तमान में जी कर ही किया जा सकता है।
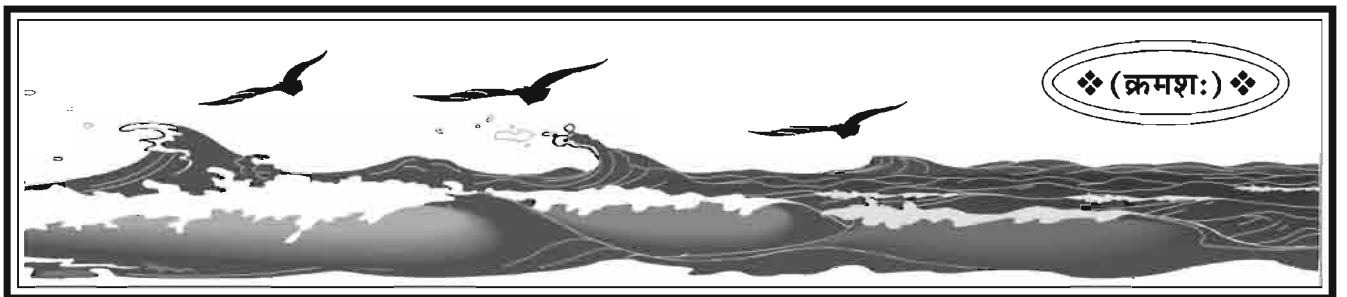
वेदान्त-बोधक कथाएँ (७)

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी विश्वाश्रयानन्द जी ने वेदान्त के गूढ़-गहन तत्त्वों को अभिव्यक्त करनेवाली कुछ कथाओं को बँगला में लिखकर 'गल्पे वेदान्त' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। बाद में स्वामी अमरानन्द जी ने उसका आंग्ल रूपान्तरण किया। दोनों ही पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं। उन्हीं कथाओं का हिन्दी अनुवाद हम धारावाहिक रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

उपनिषदों के कुछ पृष्ठ

नचिकेता – यम के द्वार पर

प्राचीन भारत में बहुत-से यज्ञ हुआ करते थे। यज्ञ नामक इन अनुष्ठानों में देवताओं को विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों की आहुतियाँ दी जाती थीं।

एक बार वाजश्रवा नामक ऋषि ने एक यज्ञ का आयोजन किया। यह आयोजन बड़ा ही विशाल था। इसमें भाग लेने के लिये वाजश्रवा के आश्रम में बहुत-से ऋषि-मुनि तथा विद्वान् पधारे। इस विशेष यज्ञ के नियमानुसार इसके यजमान को अपनी सारी सम्पत्ति दान कर देनी पड़ती थी। यहाँ स्मरणीय है कि उन दिनों व्यक्ति की सम्पत्ति की गणना उसके गोशाले में स्थित गायों के रूप में की जाती थी।

वाजश्रवा ऋषि का तरुण पुत्र नचिकेता यज्ञ को देख रहा था। चारों ओर आनन्द तथा उत्सव का माहौल था। परन्तु इस बालक की मन:स्थिति थोड़ी भिन्न थी और यह उसके चेहरे तथा आचरण से भी प्रकट हो रहा था। वह उन जरा-जीर्ण गायों का निरीक्षण कर रहा था, जिन्हें उसके पिता ने यज्ञ में दान देने हेतु एकत्र की थीं।

बालक ने सोचा – "दान एक महान् सत्कार्य है और दुधारू गायें गरीबों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। परन्तु मेरे पिता केवल बूढ़ी तथा दुबली गायों का ही दान कर रहे हैं। ये बूढ़ी गायें तो इतनी कमजोर हैं कि कहीं ये घर पहुँचने के पहले रास्ते में ही गिरकर दम न तोड़ दें। दान करते समय व्यक्ति को अपनी उदारता का दिखावा नहीं करना चाहिये। यह तो दान नहीं, मिथ्या आचरण है।"

पर नचिकेता एक बालक मात्र था। वह भला कर ही क्या सकता था? उसने सोचा – मैं और कुछ तो नहीं कर सकता, पर पिता को इस पाप से बचाने के लिये स्वयं को ही दान की सामग्री के रूप में प्रस्तुत कर सकता हूँ। ऐसा सोचकर वह अपने पिता के पास गया और बोला – "आप मुझे किसको दान कर रहे हैं?" ऋषि वाजश्रवा यजमान होने के कारण उस समय यज्ञ से सम्बन्धित विविध कार्यों में व्यस्त थे, अत: उन्होंने पुत्र के शब्दों पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया। परन्तु जब नचिकेता ने वही प्रश्न कई बार दुहराया, तो उन्होंने झल्लाकर कहा – "तुम्हें और किसे दूँगा? मैं तुम्हें यम देवता को देता हूँ।"
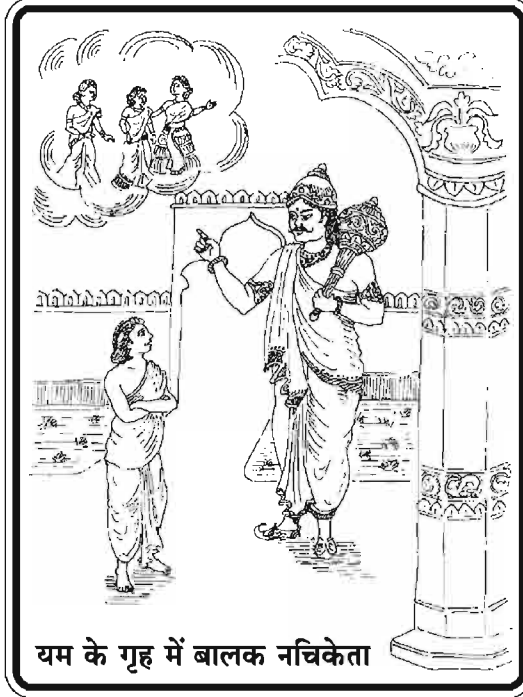
यम के गृह में बालक नचिकेता

नचिकेता ने ऐसी आशा नहीं की थी। उसने सोचा – "मेरे प्रति ऐसी नाराजगी का भाव क्यों? क्या मैं सचमुच ही इतना निकम्मा हूँ? मैं अपने पिता के अनेक शिष्यों की अपेक्षा योग्य हूँ। भले ही मैं श्रेष्ठतम छात्र न होऊँ, परन्तु मैं निश्चित रूप से निकृष्टतम भी नहीं हूँ।" अस्तु, पिता के कथन की सत्यता की रक्षा के लिये नचिकेता ने स्वेच्छापूर्वक ही मृत्यु के देवता यमराज के घर जाने का निश्चय किया।

नचिकेता ने वाजश्रवा ऋषि को अपने निश्चय से अवगत कराया। इस बार पिता ने पहली बार बालक की बात ध्यान से सुनी। उन्होंने बताया कि उन्होंने कोई शाब्दिक अर्थों में नहीं कहा था कि 'मैं तुम्हें यम देवता को देता हूँ।' परन्तु नचिकेता ने अपने पिता से सत्य का दृढ़तापूर्वक पालन करने का अनुरोध करते हुए उन्हें याद दिलाया कि मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, अत: व्यक्ति को सत्य जैसी नीतियों का दृढ़ता के साथ पालन करना चाहिये। सत्य इतना महान् है कि शरीर का नाश हो जाने के बाद भी उसका नाश नहीं होता। आखिरकार पिता ने नचिकेता की बात स्वीकार कर ली।

नचिकेता यमपुरी के लिये रवाना हुआ। जब वह यम के महल के द्वार पर पहुँचा, तो पता चला कि वे किसी कार्यवश बाहर गये हुए हैं। तीन दिनों बाद जब यम घर लौटे, तो वे नचिकेता की श्रद्धा तथा दृढ़ संकल्प का परिचय पाकर बड़े प्रसन्न हुए। वे बोले – "तुम तीन रात बिना खाये-पीये मेरी प्रतीक्षा करते रहे, इसके लिये तुम मुझसे तीन वर माँग लो।" नचिकेता ने उत्तर दिया – "मेरे पिता घर में चिन्तातुर होकर मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, वे शान्त हो जायँ और जब मैं लौटकर जाऊँ, तो मुझे प्रेत न समझकर अपने

पुत्र के रूप में पहचान लें तथा स्नेहपूर्वक मुझसे बातें करें। इसी को मैं पहले वरदान के रूप में माँगता हूँ।'' यम ने तत्काल ही इसे स्वीकार कर लिया।

इसके बाद नचिकेता ने कहा – ''मैंने सुना है कि स्वर्ग के लोग बड़े प्रसन्न रहते हैं। वहाँ पर रोग, भूख या बुढ़ापा जैसा कुछ भी नहीं है। कृपया मुझे सविस्तार उस यज्ञ के बारे में बताएँ, जिसके द्वारा व्यक्ति स्वर्ग जाने में समर्थ होता है।''

यम ने अपने तरुण अतिथि को उस यज्ञ के विषय में सब कुछ – उसकी वेदी का निर्माण करने में लगनेवाली ईंटों का आकार-प्रकार तथा संख्या बता दी। इसके बाद नचिकेता ने जो कुछ सुना था, वह सब शब्दश: सुना दिया। इससे यम उस बालक की बुद्धिमत्ता का परिचय पाकर बड़े प्रसन्न हुए और इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने घोषणा की कि अब से इसे 'नचिकेता-यज्ञ' ही कहा जायेगा। यम ने उसे रत्नों की एक माला भी प्रदान की। इसके बाद उन्होंने नचिकेता से उसके अन्तिम वर के बारे में पूछा।

नचिकेता बोला – ''मुझे एक शंका है कि मरने के बाद व्यक्ति का क्या होता है। कुछ लोग कहते हैं कि शरीर की मृत्यु के बाद भी प्राणी का अस्तित्व रहता है, परन्तु कुछ अन्य लोग इस बात से सहमत नहीं हैं। मैं इस विषय में आपसे वास्तविकता जानने का इच्छुक हूँ। यही मैं आपसे तीसरा वर माँगता हूँ।''

यम पहले से ही बालक की बुद्धिमत्ता तथा आत्मविश्वास से सन्तुष्ट थे, तथापि उन्हें इस बात की भी परीक्षा लेनी थी कि बालक सर्वोच्च आत्मज्ञान का अधिकारी है या नहीं। इसलिये तत्काल यह वरदान स्वीकार करने की जगह वे बोले – ''इस विषय में देवताओं तक के मन में भी शंका रहती है। और यह विषय इतना सूक्ष्म भी है कि इसे आसानी से नहीं समझा जा सकता। अत: तुम कोई दूसरा वर ही माँग लो।''

नचिकेता ने उत्तर दिया – ''चूँकि इस विषय में देवताओं तक के मन में शंका है और इस सूक्ष्म विद्या के आपके जैसे दुर्लभ शिक्षक मुझे उपलब्ध हैं, अत: इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य वर को मैं माँगने के उपयुक्त नहीं समझता।''

यम ने बालक को लुभाने का भी प्रयास किया। वे बोले – ''देखो, मैं देवता हूँ और मेरी इच्छा कभी निष्फल नहीं होती। मैं तुम्हें अकूत धन-दौलत और लम्बी आयु दे सकता हूँ। मैं तुम्हें एक विशाल राज्य का सम्राट् बना दूँगा। फिर देखो, मैं तुम्हें ये नर्तकी बालाएँ भी प्रदान करता हूँ। तुम जी भरकर इनके नृत्य-गीत का आनन्द ले सकते हो। इसके अलावा भी मैं तुम्हें बहुत-सी भोग की चीजें प्रदान करूँगा। इन्हीं चीजों के लिये दुनिया के लोग पागल रहते हैं और यह सब कुछ मैं तुम्हें दे रहा हूँ। पर वह मृत्यु-विषयक प्रश्न तुम मुझसे मत पूछो।''

लेकिन एक मेधावी धर्म-जिज्ञासु के लिये मृत्यु-विषयक जिज्ञासा को भुला देना असम्भव है। अत: नचिकेता सहज ही प्रलोभित होनेवाला न था। उसने उत्तर दिया – ''आप जो सारी चीजें मुझे देना चाहते हैं, वे सब क्षणभंगुर हैं। मनुष्य का जीवन भी क्षणिक तथा सीमित है। फिर चाहे जितना भी धन मिल जाये, वह सन्तुष्ट नहीं हो पाता। जीवन के उच्चतर लक्ष्यों के विषय में जाननेवाला व्यक्ति क्या केवल नृत्य-गीत और मौज-मस्ती से युक्त दीर्घ जीवन से सन्तुष्ट हो सकता है? मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा अनेक विषयों का भोग करता है, परन्तु कुछ काल बाद ये इन्द्रियाँ भी दुर्बल हो जाती हैं। इसलिये मेरा मन इन सामान्य भोगों के प्रति आकृष्ट नहीं होता। मुझे तो वह सर्वोच्च ज्ञान ही चाहिये।''

यम समझ गये कि नचिकेता को धन-सम्पदा के प्रलोभन से मुग्ध नहीं किया जा सकता। बालक परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुका था। यम ने सन्तुष्ट होकर उसे विस्तारपूर्वक ज्ञान के सूक्ष्म पथ की शिक्षा दी।

यम ने नचिकेता को जो उपदेश दिये, वे यजुर्वेद के अंशरूप कठोपनिषद् नामक ग्रन्थ में निबद्ध हैं। यम को उपदेशों का सार-संक्षेप इस प्रकार है –

आत्मा शुद्ध चैतना-स्वरूप है। यह हममें से प्रत्येक के भीतर निवास करती है और इसी के कारण हम अपने को सचेतन महसूस करते हैं। चेतना ही हमारा वास्तविक स्वरूप या वास्तविक 'मैं' या आत्मा होने के कारण हमारा शरीर-मन भी चेतन प्रतीत होता है।

जैसे सूर्य के आलोक के बिना हम कुछ भी नहीं देख सकते और हमारे नेत्रों के दोष होने पर भी सूर्य में कोई बदलाव नहीं आता, वैसे ही हमारे देह-मन के दोष आत्मा पर कोई भी प्रभाव नहीं डालते।

हम अपनी इन्द्रियों के माध्यम से जागतिक विषयों के भोग में आनन्द लेते हैं। परन्तु जिसे आत्मज्ञान की इच्छा हो, उसे बाह्य जगत् की ओर इन्द्रियों के सहज प्रवाह को रोककर अपने अन्तर में निहित आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये। विवेकवान व्यक्ति प्रिय लगनेवाली वस्तुओं को नहीं, अपितु सत्य तथा हितकर वस्तुओं को चुनता है। ऐसा व्यक्ति अपने पूरे मन को आत्मा की ओर एकाग्र कर सकता है।

यह आत्मा शरीर-मन तथा बुद्धि के परे है। हमारा शरीर एक रथ के समान है और हम आत्मा के रूप में इसमें सवार हैं। इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं, मन लगाम है और बुद्धि सारथी के रूप में इसे ठीक-ठीक चलाने का प्रयास कर रही है। साधारण लोगों की बुद्धि की दुर्बलता तथा मन की चंचलता के कारण उनका रथ सीधे मार्ग पर नहीं चल सकता।

❖ **(क्रमश:)** ❖

आत्माराम की आत्मकथा (२२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसके अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

पुनः वृन्दावन में

दूसरे दिन सुबह की गाड़ी से आगरा रवाना हुआ। दो दिन बाद आगरा पहुँचा, ताजमहल देखा। उसके बाद अगले दिन रात की गाड़ी से मथुरा होते हुए वृन्दावन के लिए प्रस्थान किया। दूसरे दिन अपराह्न में वृन्दावन पहुँचकर श्री केशवानन्द ब्रह्मचारी के आश्रम के सामने से होकर सेवाश्रम जा रहा था – देखा – दुर्गापूजा हो रही है। माह, तिथि, वार आदि का मुझे कुछ भी ध्यान न था, मेरे लिए तो राम-मास, राम-तिथि, राम-वार हो गया था, यद्यपि हनुमान की तरह नहीं, क्योंकि वे तो निरन्तर ही राम के ध्यान में रहते, इसलिए ऐसी भूल होती थी। परन्तु मैं कोई खबर नहीं रखता था, इसलिए ऐसी अवस्था हुई थी।

बंगाल छोड़ने के बाद 'दुर्गापूजा' देखने को नहीं मिली थी। अन्तिम बार पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) के जीवन-काल में मठ में देखी थी। उनके देहत्याग के कुछ दिनों बाद ही मैंने मठ छोड़ा, बंगाल छोड़ा, इसलिए बंगाल की प्रमुख पूजा – 'दुर्गापूजा' देखने का सौभाग्य फिर नहीं मिला। 'दुर्गापूजा' आते ही बंगाली-लोगों के मन में कितनी ही सुखमय स्मृतियाँ जाग उठती हैं! कितनी स्नेह की बातें, कितनी मधुमय स्मृतियाँ, कितने ही पवित्र आनन्द के घटनापूर्ण दिनों के चित्र आँखों के सामने उभरने लगे। ऐसा कुछ क्षणों के लिये हुआ और जन्मदात्री माँ और भाई-बहनों की बात याद आने से मन में विषाद छा गया।

माँ मुझे सात साल का छोड़कर स्वर्गवासी हो गई थी, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि आज भी उनकी इतने स्पष्ट रूप से याद है! उनकी हर बात, चाल-चलन, उठना-बैठना, व्यवहार – सब याद है। और उनकी स्नेहमूर्ति का सुस्पष्ट चित्र मेरे मानस-पटल पर अंकित है – वही हँसता हुआ मुख, वही स्नेहभरी दृष्टि! ओ माँ ...! धीरे-धीरे वह चित्र विलीन हो गया। उसकी जगह एक अन्य चेहरा उभरने लगा, उनका जिन्होंने बाद में माँ का आसन ग्रहण किया था, जिन्होंने मुझे अपनी गर्भजात सन्तान की भाँति रखा था, जिनका स्नेह पाकर मुझे एक बार फिर मातृस्नेह का स्वाद मिला था। उन अति पवित्र माँ का चित्र! जीवन्त जाग्रत चित्र! दुर्गा के सामने खड़े होकर देख रहा था – जननी आई, फिर धात्री आई – सब उस दुर्गामूर्ति में ही। मेरी ओर देखकर माँ दुर्गा मानो मृदु हास्य कर रही हैं। माँ! माँ! सब तुम्हीं हो, तुम्हीं हो! फिर सहसा 'माँ-काली' का रूप दीख पड़ता है, मेरे चन्दननगर के मकान के पास के 'काली-मन्दिर' में जगमगा रही हैं। गर्भधारिणी माँ मुझे वहाँ गोद में ले गई हैं। वहाँ वे अपनी छाती चीरकर एक सिकोरे में माँ-काली को रक्त दे रही हैं। वह सकोरा पुजारी ले जा रहा है। वे कह रही हैं – "माँ! मेरे लक्ष्मी-नारायण को ग्रहण करो। यह अब मेरा नहीं, तुम्हारा है। तुम्हीं इसकी रक्षा करो। माँ, मेरे दोष क्षमा करो।" गर्भधारिणी माँ कातर होकर प्रार्थना कर रही हैं। उनके दोनों नयनों से अश्रुधारा बह रही है, सीना भीग गया है और मेरे सिर पर हाथ फेर रही हैं। मैं रो रहा हूँ। माँ रो रही हैं, इसीलिए मैं भी रो रहा हूँ।

पुजारी मेरी माँ की छाती के रक्त से मिश्रित सिन्दूर लेकर आया और माँ ने मेरा तिलक कर दिया – उत्सर्ग का रक्त-तिलक। पुजारी ने भी तिलक किया था और कुछ प्रसादी मिठाई भी दी थी। ... फिर दुर्गामूर्ति का मृदु हास्य से युक्त मुख-मण्डल उभर आता है। – "माँ! माँ! तुम्हीं जननी हो, तुम्हीं दुर्गा, काली, तारा हो।" ... फिर धात्री-माँ का रूप उभर आया, फिर मिट गया। – "माँ! माँ! हे जगदम्बे, समझ गया, तुम्हीं दुर्गा-काली-तारा हो! तुम्हीं मेरी जननी, तुम्हीं मेरी धात्री हो!"

कालिकानन्द जी ने पूछा – कब आना हुआ?

थोड़ी देर तो उत्तर ही न दे सका, फिर बोला – "जी, अभी आया हूँ। आप कैसे हैं? सब अच्छे हैं न!"

आदि कहकर उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने श्रीमाँ का प्रसाद लेने को निमंत्रित किया।

मैंने कहा – "स्नान आदि करके आऊँगा।"

इसके बाद उन्होंने कहा – "ठीक है, आप कष्ट मत कीजियेगा, मैं अभी भेज दूँगा।"

बगीचे के आधी दूर तक ही पहुँचा था कि देखा – पीछे से लाल कपड़े पहने, काले तथा भरे हुए चेहरेवाली एक प्रौढ़ा पुकार रही है – "सुनिये, सुनिये।"

– "क्या है, कहिये?"

– ''आपकी शक्ति नहीं है?''

पहले तो कुछ भी समझ नहीं सका, फिर जब उसने कहा – ''शक्ति के बिना साधना कैसे हो सकती है? आपकी शक्ति नहीं है क्या?'' तब याद आया कि शाक्त और वैष्णव तंत्रों में वैसा एक मत है और सुन रखा था कि वृन्दावन में वैसी स्त्रियाँ अनजान पुरुषों को फँसाती हैं। बड़ी घृणा हुई।

मैंने कहा – ''शक्ति पर्याप्त है।'' और अपने दोनों बाहुओं को उठाकर कहा – ''रमणी की शक्ति की मुझे जरूरत नहीं है।''

वह फिर बोली – ''नहीं ! नहीं ! आपको कुछ भी नहीं करना होगा, भिक्षा आदि सब मैं ही कर लाऊँगी। यह शक्ति तो साधना के लिए होगी ...।''

मजबूर होकर बीच में ही टोकते हुए मैंने कहा – ''मेरी साधना में रमणी की शक्ति की जरूरत नहीं पड़ती, जननी का आशीर्वाद मात्र ही काम आता है।''

कहते हुए चल पड़ा। सोच रहा था – ''साधना के नाम पर दुष्टों ने देश को व्यभिचार से आच्छन्न कर दिया है। वह जो व्यभिचार में धर्म देख रही है, इसमें उसका भला क्या दोष ! उसने दुष्टों से ही यह विद्या सीखी है। इनके दल को दण्डित करना ही उचित है।'' और वह जो भिक्षा खुद करेगी – कह रही थी, वह शायद मेरी पोशाक और अवस्था देखकर समझ गई थी कि मैं एक अति निर्धन अकिंचन व्यक्ति हूँ और आर्थिक दृष्टि से मुझमें एक स्त्री का भार वहन करने की क्षमता नहीं है। उसकी धारणा थी कि यदि खाने-पहनने का भार न हो, तो (उस तथाकथित धर्मलाभ के पथ में, साधना-सहायिका के रूप में) उसे सहयात्री बनाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। यह उसके देह-इन्द्रियों की, आयु की, भरे यौवन की पुकार थी।

सेवाश्रम में जाकर पहले डॉक्टर पूर्णानन्द ब्रह्मचारी और उसके बाद बूढ़े (शिरीष) बाबा से मिला। मुझे देखकर सभी लोग बड़े आनन्दित हुए और उस विशेष 'शक्ति' से भेंट होने की बात सुनकर सभी खूब हँसने लगे।

बचपन की वह घटना

यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है – मेरी गर्भधारिणी माँ ने एक मनौती के कारण ही काली के सामने अपनी छाती चीरकर रक्त दिया था। तब मेरी आयु साढ़े पाँच या छह वर्ष की थी। एक दिन दोपहर के समय मैं और मुझसे दो-ढाई साल बड़ा मेरा बड़ा भांजा भोलानाथ, चोरी-छिपे बिलायती-आमड़ा खाने के लोभ में उसे तोड़ने गये थे। वह पेड़ एक दुमंजले मकान जैसी ऊँची दीवार के पास बगीचे के उत्तरी ओर की सीमा पर स्थित था। दीवार पुरानी थी। पुरानी दीवार के पास सिन्हा लोगों के मकान का पुराने ढंग का पिछला द्वार था। मेरा भांजा तो आमड़े की डाल से होकर दीवार पर चढ़ गया, परन्तु मैं वैसा करने में असमर्थ था। दीवार के पास ही एक अमरूद का पेड़ था और उस ओर की दीवार कम ऊँची थी। उसी से ऊपर चढ़ा। गुच्छे-के-गुच्छे खूब आमड़े फले थे और मीठे भी थे। कुछ तो वहीं पर खा लिए गये, फिर लगा कि कहीं कोई देखकर माँ से शिकायत न कर दे, इसी डर से कुछ इकट्ठे करके उतर जाना ही उचित समझा गया। थोड़ी दूरी पर एक गुच्छे में बहुत-से फल लगे हुए थे, परन्तु पास की एक डाली को पकड़कर खींचने से वह पकड़ में आ सकता था। भांजे ने कहा – ''तुम डाली को खींचो, मेरे हाथ लम्बे हैं, पहुँच जायेंगे। उसके बाद मजे से खायेंगे।''

मैं डाली पकड़कर खींचने लगा। वह बोला – ''थोड़ा जोर से ... ! और जोर से ... ! बस, पास आ गया है।'' आमड़े तो टूटे, पर उसके साथ ही 'फटाक' की आवाज के साथ डाली भी टूट गई। दीवार के दूसरी ओर टूटी हुई ईंटों का ढेर और सेवड़ा की झाड़ियों का जंगल था। मैं – 'माँ..., माँ... !' – की आवाज के साथ 'सिर नीचे और पाँव ऊपर' उसी के ऊपर जा गिरा। पास ही गरीब बागदी आदिवासियों की कुछ झोपड़ियाँ थी। एक वृद्धा ने शायद यह देखा और दौड़ती हुई आकर मुझे गोद में उठा लिया और किसी अन्य ने जाकर मेरी माँ को सूचना दी।

जब थोड़ा होश में आया, तो देखा कि मैं माँ की गोद में लेटा हूँ और उनका सारा कपड़ा खून से भीग गया है। माँ रोती हुई मेरी आँखों तथा मुख पर पानी के छींटे दे रही थी। मैं माँ का मुख देखकर आश्वस्त हुआ। उन्होंने एक गाल पर चुम्बन लिया। अहा, उस चुम्बन में कितना स्नेह, कितना प्रेम था ! उसके बाद वे मुझे गोद में उठाए घर ले आईं और दूसरे मंजिल के एक कमरे में, जहाँ से काली का मन्दिर दिखता था, लिटा दिया। यह कमरा मेरे पिता का शयन-कक्ष था। उसके सामने माँ का या हमारा शयन-कक्ष था।

बिस्तर पर लिटाते ही मैं फिर बेहोश हो गया। संध्या को जब फिर होश आने पर देखा कि सिर पर दवा बँधी हुई है। सिर के पास ही माँ बैठी हैं। डॉक्टर आये हुए हैं, बर्फ मँगाई गयी है। घर के अन्य लोग उपस्थित हैं। सभी के मुख पर चिन्ता के लक्षण हैं। बातें हो रही थीं कि पिताजी को उनके कलकत्ते के आफिस में तार देकर यह समाचार भेज दिया गया है। पिताजी तब प्रतिदिन श्यामनगर होकर नाव में सियालदह (कोलकाता) जाते थे और वहीं पर वे पूर्व-बंगाल रेलवे के इंजीनियरिंग विभाग में बड़े बाबू थे।

मुझे पहली बार बेहोश देखकर माँ ने मनौती मानी थी कि मेरे बच जाने पर वे माँ-काली को विशेष पूजा देंगी। और जब मैं दुबारा बेहोश हुआ, तो उन्हें अपनी छाती चीरकर रक्त देने की मनौती मानी और मन-ही-मन संकल्प करके मुझे

माँ-काली के चरणों में सौंप दिया था।

भयंकर चोट लगी थी, बाईं करवट पड़ा था। पसलियों में, पैरों में तथा बायें हाथ में भयानक चोट लगी थी। सिर में कपाल के ऊपर डेढ़ इंच लम्बा एक पतला लकड़ी का टुकड़ा घुस गया था और लकड़ी का एक टुकड़ा भौंहों के जोड़ के पास भी घुस गया था। इस घटना के बाद से ही मेरे बाँयें तरफ का शरीर दुर्बल हो गया था, अब भी है।

मेरे गिरने के बाद ही जिस बागदी वृद्धा ने आकर मुझे गोद में उठा लिया था, बाद में माँ ने उसे एक जोड़ा वस्त्र और दो या पाँच रुपये (ठीक याद नहीं आ रहा है) दिये थे। दस-बारह दिनों तक मैं बिस्तर पकड़े रहा।

महिम बाबू और ब्रह्मचारी प्राणेश

मन में इच्छा थी कि वृन्दावन में कुछ दिन बिताने के बाद ऋषिकेश चला जाऊँगा। उन दिनों वहाँ सेवाश्रम में स्वामीजी के भाई 'महिम बाबू' (महेन्द्रनाथ दत्त) तथा ब्रह्मचारी प्राणेश कुमार ठहरे हुए थे और एक ब्रह्मचारी चिन्ताहरण सेवाश्रम के कर्मी होकर निवास कर रहे थे। ये तीनों ही लाहौर से चले आये थे। वहाँ अमृतसर के 'जलियाँवाला बाग' के हत्याकाण्ड तथा मार्शल लॉ के प्रति विरोध-प्रदर्शनार्थ सभा हुई थी और सरकार ने गोली चलाई थी। बहुत-से लोग हताहत हुए थे। ये तीनों और कोई उपाय न देखकर यहाँ चले आये थे।

एक दिन ब्रह्मचारी प्राणेश को खूब तेज १०४-५ डिग्री तक बुखार चढ़ा। बेहोश-जैसे पड़े थे। मैं उनके सिर पर जल-पट्टी रखकर हवा कर रहा था। एक आदमी बर्फ लाने गया था। डॉक्टर महाराज बैठे थे और तभी महिम बाबू घूमकर लौटे। जाते समय वे बुखार चढ़ा देखकर नहीं गये थे, अत: आते ही – ब्रह्मचारी प्राणेश को बुखार हुआ है – सुनकर चिन्तित होकर पास आये और कहा – "अरे, इतना बुखार ! इतना बुखार ! वह मेरी माँ-बाप से भी बढ़कर देख-भाल करता है। ओ डॉक्टर ! यह ठीक हो जायेगा न?"

मैंने कहा – "आप इतना घबरा क्यों रहे हैं? ज्वर ठीक हो जायेगा। आप अपने कमरे में जाइये।"

उनकी घबराहट देख डॉक्टर महाराज ने भी कहा – "हाँ, हाँ, आप कमरे में जाइये।"

महिम बाबू – "नहीं, नहीं, तुम लोग नहीं जानते, उसे छोड़कर मैं पल भर भी नहीं रह सकता और यह देखो – मेरा शरीर भी काँप रहा है, लगता है बुखार आयेगा।"

उन्हें जल्दी से कमरे में ले जाकर लिटा दिया। थोड़ी देर बाद डॉक्टर महाराज आकर बोले – "महिम बाबू को काफी बुखार चढ़ी है और बड़बड़ा रहे हैं। Nervous fever है। आश्चर्य की बात है !

डॉक्टर महाराज के विशेष आग्रह पर हमारा वृन्दावन जाकर वहाँ अमृतसर-कांग्रेस देखने के बाद ऋषिकेश जाना निश्चित हुआ। मेरे जाने पर वे भी जायेंगे। वे बोले कि कुछ दिनों की छुट्टी के लिए पूज्य शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) को लिखा है। अनुमति आते ही वे रवाना होंगे और मैं पहले ही जाकर रहने की व्यवस्था करूँ। जाड़ा आ गया था। गर्म वस्त्र नहीं थे, ठीक हुआ कि मथुरा से एक गर्म चादर खरीद लाया जाय। उस दिन गुरुवार – अशुभ मुहुर्त होने से महिम बाबू ने मना किया। विचार था कि अगले दिन – शुक्रवार को उसे खरीदकर रात की गाड़ी से अमृतसर चल दूँगा।

उन्हीं दिनों वहाँ मेदिनीपुर से एक लड़का आया हुआ था। वह वहाँ निराश्रय होकर बड़ी कठिनाई में पड़ गया था और इसीलिए सेवाश्रम में आश्रय माँगने आया। उसके बारे में विशेष जानकारी हेतु उसके घर पत्र लिखा गया था, पर मैं उस पर विश्वास नहीं कर सका। बोला – "सब मन-गढ़न्त कह रहा है।" डॉक्टर की कृपा से उसे रख लिया गया।

गुरुवार की रात हम लोग खाना खाने गये थे। डॉक्टर अपने कमरे में ताला लगाना भूल गये थे। मैं भी उसी कमरे में रहता था। लौटकर देखा – दरवाजा खुला है और डॉक्टर का बैग गायब है। उस बैग में मेरे करीब पचपन-साठ रुपये और डॉक्टर के सत्तर रुपये थे। बड़े ही कष्ट से संग्रह किया हुआ धन था। तत्काल उसी लड़के पर सन्देह हुआ। बहुत ढूँढने पर भी उसका पता नहीं चला। अशुभ मुहुर्त ही तो था। पुलिस को भी सूचना नहीं दी गई, क्योंकि हम अकिंचन हैं और पुलिस में रिपोर्ट लिखवाने से भी खर्च होगा, क्योंकि यदि पकड़ा गया, तो भी वहाँ शिनाख्त करने जाना पड़ेगा।

डॉक्टर बड़े लज्जित हुए। खेद करने और लज्जित होने का कारण भी था, क्योंकि उस लड़के के बारे में मैंने उन्हें पहले ही सतर्क कर दिया था और उनकी इस गल्ती से मैं भी अपना सब कुछ खो चुका था। मैंने सोचा कि पैदल ही चलकर फिर हरिद्वार जाऊँगा। लगा – ईश्वर की इच्छा नहीं है कि इस समय मैं पंजाब जाऊँ।

वीरों की भूमि पंजाब (१९२०)

मगर डॉक्टर ने नहीं छोड़ा। उन्होंने तार द्वारा एक मित्र से दो सौ रुपये मँगवाये। तीन-चार दिन बाद करीब पचास रुपये साथ लेकर अमृतसर गया। वहाँ शहर के बाहर एक धर्मशाला में स्थान मिला। स्थान निर्जन था और पास में एक छोटा कुण्ड भी था – रामकुण्ड या ऐसा ही कुछ नाम था। जलियाँ-वाला बाग के हत्याकाण्ड के बाद उन निर्दोष लोगों के रक्त से सिंचन से पवित्र तीर्थ में परिणत भूखण्ड[१] पर ही १९१९[२]

१. जनरल रेजिनाल्ड डायर ने १३ अप्रैल १९१९ को बैशाखी के दिन अमृतसर के जलियाँवाला बाग में सभा के लिये एकत्र हजारों निहत्थे लोगों पर अचानक ही गोलियाँ चलवा दी थीं।

२. अमृतसर-कांग्रेस दिसम्बर (१९१९) के आखिरी सप्ताह में हुआ।

के काँग्रेस का आयोजन हो रहा था। एनी बेसेंट, मालवीय, मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास और गाँधीजी आदि देश के सभी नेता आ रहे थे। हवा गर्म थी। सभी लज्जा और क्षोभ से मर्माहत थे, क्रोध से परिपूर्ण थे। न जाने क्या करेंगे? क्या होगा? मूँछ-दाढ़ी तथा कृपाणधारी, बड़ी-बड़ी पगड़ियाँ पहने, उत्तेजित होकर शहर में घूमते-फिरते थे। उनके चेहरे तथा आँखों से प्रतिहिंसा झलकती थी। कीर्तिमान डायर उस समय विलायत में थे – सात समुद्र पार जाकर विश्राम कर रहे थे। सम्राट् के साम्राज्य की रक्षा के लिए भले उद्देश्य से कुछ भी करने को तैयार हैं। वैसे उन लोगों के लिए सेवा-निवृत्ति के बाद भी मोटी रकम की व्यवस्था थी। चाहे जितने भी प्रस्ताव पास करो, नौकरी के भत्ते बन्द नहीं होंगे।

अस्तु। वह काँग्रेस एक विराट् व्यापार था, राष्ट्रीय क्षोभ प्रदर्शन का महान् आयोजन था। सभी लोग गरम थे। कोई-कोई अत्यधिक गरम थे। यह बात सभी जानते हैं, रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ है। तथापि आपस में एक प्रीतिभाव जाग उठा था और संवेदना के भाव ने उसे और भी प्रगाढ़ कर दिया था। कुछ समय के लिये प्रादेशिक व्यवधान दूर हो गया था – सब एक हिन्दू-संसार हो गया था, जिसमें सिक्ख, बौद्ध, जैन धर्मावलम्बी भी सम्मिलित थे। कुछ दिनों के लिये सभी एक मन – एक प्राण के हो गये थे। उनमें महा-स्वार्थपरायण व्यक्ति भी समझ सका था कि सभी मानो एक ही तंत्र में गुँथे हैं। यह अल्पस्थायी होने से भी, इसमें सन्देह नहीं कि यह भविष्य के लिए हितकर होगा और उसी दिन 'ऋषि-कृष्ण' के इस पवित्र उद्गार का किंचित् अर्थ समझ सका – Out of evil cometh Good – बुराई में भी भलाई निहित है।

मैं उसी धर्मशाले में रहता था और किसी दिन भिक्षा करके, तो किसी दिन पैसे देकर धर्मशाले के दरवान के माध्यम से दाल-रोटी बनवाकर भूख मिटाता था। कभी काँग्रेस का मेला देखता और कभी स्वर्ण-मन्दिर – गुरु-दरबार में चुपचाप बैठा भजन सुनता। कई दिनों तक रह-रहकर आँखों के सामने झलक उठती – सिक्ख गुरुओं का अतुलनीय त्याग-तपस्या की बातें, वीरता की कथाएँ और समन्वयपूर्ण जीवन-चरित्र।

गुरु गोविन्द सिंह की जय हो

सिक्खों में आज जो भी तेज तथा वीरता दिखाई देती है, यह सब इन गुरुओं का दान है, विशेषकर महान् गुरु गोविन्द सिंह का। चिर काल तक उनकी जय हो। क्या त्याग, क्या तेज, क्या क्षमा! धन्य हैं गुरु गोविन्द सिंह! आप धन्य हैं! धर्मरक्षा के लिए, देश के लिए और स्वजाति के हित के लिए किस प्रकार स्वयं का बलिदान करना चाहिए – यह आप अपने जीवन में अपूर्व रूप से मूर्त कर गये हैं। भक्ति तथा भक्त का वास्तविक स्वरूप दिखाने के लिये आप भक्ति के साथ शक्ति का योग करके दिखा गये हैं। आप ईश्वर के लिए, देश के लिए, समाज के लिए रोना जानते थे और रोये भी बहुत, परन्तु यह रुदन आपको दुर्बल नहीं बना सका। आपके पुरुष देह में कभी नारी-जाति के लक्षण प्रकट नहीं हुए या आपके मन पर कभी नारी-सुलभ 'दुर्बलता' घर नहीं कर सकी। आप मर्द थे! पुरुषसिंह थे! नाक से रोते हुए भक्ति दिखाने की आपमें कभी प्रवृत्ति नहीं हुई, जो पुरुष को नामर्द – क्लीव बना देती है। जब भी देखता हूँ कि हाथ में नंगी कृपाण लिये, आँखें लाल किये, दृढ़काय सिक्ख – धर्म के प्रतीक – ग्रन्थ साहब को पहरा दे रहा है, तो मेरा हृदय दस हाथ फूल उठता है। वाहे गुरु की फतेह! जय गुरु! इससे निर्जीवप्राय देह में प्राणों का संचार हो उठता है!

हे भक्तदल! तुम लोग कब इस भक्ति को ग्रहण करना सीखोगे? इससे तुम्हारी तन में अतुल शक्ति आयेगी, तुम्हारे मन में तीव्र तेज आयेगा। कब तुम लोग वीरों का धर्म पालन करना सीखोगे? कब तुम सभी वीरभक्त होंगे? हे शक्तिहीन, वीरत्वहीन, स्त्रैण भक्तों के दल! देखो, आँखें खोलकर देखो – किस प्रकार भक्ति और शक्ति एक साथ रह सकती हैं? तुम कहते हो – 'दास करो। दास करो।' ये लोग भी यही कहते हैं – "मैं गुलाम बन्दा!' परन्तु ये लोग जानते हैं कि खुदा के बन्दे कभी दुर्बल नहीं होते और ये यह भी कहते हैं कि दुर्बल लोग खुदा के बन्दे नहीं हो सकते। **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः** – निर्बल आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। **वीरभोग्या वसुन्धरा** – वीर लोग ही संसार का भोग करते हैं। यदि कुछ चाहना ही है, तो भाई श्रेष्ठ वस्तु को ही क्यों नहीं चाहते! ऋषियों की तरह – बल, वीरता, तेज, ओज और मन्युः – अर्थात् सत् क्रोध भी चाहिए। अन्याय, अधर्म, अत्याचार और अनीति के विरुद्ध सत् क्रोध अवश्य चाहिए। जिनके अन्दर यह नहीं होता है, वे स्वयं इन दोषों से दूषित होते हैं। देखते नहीं – पूरे देश की हालत! कितना दुर्बल है, कितना नीचे गिर गया है! एक साथ चलो, एक सुर में कहो – "वाहे गुरु की फतह! वाहे गुरु!!" दुर्बल लोग एक मन के, एक विचार के हो ही नहीं सकते। उनमें समान वृत्ति उदय नहीं होती, इसीलिए उनके बीच समिति अर्थात् व्यावहारिक रूप से एकता सम्भव नहीं हो पाती। तेज चाहिए, बल चाहिए, बुद्धि चाहिए। ब्रह्मतेज और क्षात्रवीर्य – इन दोनों का सम्मिलन, यही आदर्श है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (१९)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

जीव

प्राणी

इसके पूर्व 'जीव' शब्द का विभिन्न प्रसंगों में अनेकों बार उल्लेख हो चुका है। जीव शब्द के अर्थ के विषय में भी हमें कुछ-कुछ धारणा हो चुकी है। अब हम जीव के बारे में और भी विस्तार से तथ्यों का संग्रह करेंगे।

जीव शब्द का व्युत्पत्ति-गत अर्थ है – जीवित सत्ता। सामान्य प्रयोग में इस शब्द का यही अर्थ है। विश्व के किसी भी प्राणी को जीव कहा जा सकता है। प्राणियों के आवास ब्रह्माण्ड के विषय में भी हिन्दुओं की धारणा बड़ी दूरगामी है। इसमें जीवों के निवास-योग्य अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म लोक हैं। इसके बाद जीव भी असंख्य हैं और उनके प्रकार भी असंख्य हैं। सूक्ष्मतम जीवाणुओं से लेकर पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता आदि सभी जीवों की श्रेणी में आते हैं। देवश्रेष्ठ हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) भी एक जीव हैं, यह हम पहले ही जान चुके हैं। सृष्टि के अन्तर्गत आनेवाले सभी जीवों का उल्लेख करने के लिये हमारे शास्त्रों में एक अति परिचित शब्द है – 'आब्रह्म-स्तम्ब-पर्यन्त' अर्थात् ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक। वस्तुत: हिन्दुओं का विश्वास है कि अनेक लोगों में फैला हुआ यह ब्रह्माण्ड असंख्य जीवों का आश्रय है।

जीव चर (चलने-फिरनेवाले) हो सकते हैं और अचर (अचल) भी हो सकते हैं। हिन्दू ऋषियों का सिद्धान्त यह है कि देवता, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे आदि सभी प्रकार के चर तथा अचर जीव चेतनायुक्त हैं। जिसमें भी प्राण है, उसमें चेतना भी है। पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं के बीच आपस में भेद केवल बोध-शक्ति के परिमाण में है।[१] प्रत्येक जीव में संज्ञा है, सुख-दुख की अनुभूति है। जीव कर्ता और भोक्ता है, यह सभी जीवों का विशिष्ट लक्षण है; और इसके साथ ही इस विश्व का रचना-कौशल भी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है।

इसके पूर्व ही हमने देखा कि कर्म के अलंघ्य विधान के अनुसार जीव अनिवार्य रूप से अपने कर्मों का फल भोगता है। पूर्व जन्मों में किये हुए कर्मों के अवश्यम्भावी फलों के रूप में ही जीव को सुख या दुख भोगना पड़ता है। कर्मफलों का भोग करने के लिये ही पुनर्जन्म होता है। प्रलय के समय जीव-समष्टि मानो बीज-अवस्था में लीन रहते हैं; उनके पूर्व कर्मों के भोग हेतु ही पुन: नयी सृष्टि आरम्भ होती है। मानो उन्हें केन्द्र बनाकर ही नये कल्प के विश्व की पुन: अभिव्यक्ति होती है। उनके कर्म तथा भोग की सामग्री के रूप में ही ब्रह्माण्ड की बाकी सभी पदार्थों की सार्थकता है। हिन्दू शास्त्रों के मतानुसार जीवों के साथ ब्रह्माण्ड का ऐसा ही एक घनिष्ठ अविच्छेद्य कार्य-कारण सम्बन्ध है।

जीवों के आपसी भेद के मूल में नाम तथा रूप के भेद के अतिरिक्त ज्ञान तथा कर्म की शक्ति का तारतम्य भी होता है। जीवश्रेष्ठ हिरण्यगर्भ में यह शक्ति असीम होती है। उनकी तुलना में एक जीवाणु की शक्ति अणु के समान कही जा सकती है। जीवाणु की शक्ति की तुलना में सीमित ज्ञान तथा कर्म की शक्ति से युक्त मनुष्य तक मानो असंख्य-गुना शक्तिमान है। मनुष्य तथा जीवाणु के बीच इस असीम भेद के अन्तराल में असंख्य प्रकार के जीव देखने में आते हैं। इसी प्रकार मनुष्य तथा हिरण्यगर्भ के बीच भी जो असीम भेद है, उसके अन्तराल में भी क्या असंख्य प्रकार के जीव होना सम्भव नहीं है? हिन्दू शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि सचमुच ही पृथ्वी के बाहर भी असंख्य प्रकार के अति-मानवीय जीव निवास करते हैं।

इस तथ्य को काल्पनिक कहकर उड़ाया नहीं जा सकता। शास्त्रों की बातें प्रत्यक्ष अनुभूतियों के द्वारा परीक्षित सत्यों पर आधारित हैं। साधारण दृष्टि से देखें तो किसी वस्तु को न देख पाने मात्र से ही उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जाता। हम लोग तो रोगों के जीवाणुओं तक को नहीं देख पाते। पर जीवाणु असत्य नहीं हैं, क्योंकि उन्हें हम खुर्दबीन के द्वारा प्रत्यक्ष देख सकते हैं। ठीक वैसे ही योगदृष्टि से अति-मानवीय जीवों को भी देखा जा सकता है। जैसे सूक्ष्मदर्शी यंत्र का निर्माण एक श्रमसाध्य कार्य है, वैसे ही दूरप्रसारी स्पष्ट योगदृष्टि की प्राप्ति भी प्रयास की अपेक्षा रखता है। इसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है। अस्तु, योगदृष्टि द्वारा दर्शन-साध्य यह तथ्य अविश्वसनीय काल्पनिक कथा नहीं है।

मनुष्य से लेकर ब्रह्मा तक के असीम भेद को पूर्ण करते हुए असंख्य जीव इस पृथ्वी के बाहर भिन्न-भिन्न लोकों में निवास करते हैं। एक-एक लोक एक-एक तरह के स्वतंत्र

१. अन्त:संज्ञा भवति एते सुख-दु:ख-समन्विता:।

श्रेणी के जीवों की निवास-भूमि है। हिन्दू शास्त्रों में यक्ष, साध्य, किन्नर, गन्धर्व, देवता नाम से विभिन्न अति-मानवीय जीव-श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। उनमें अन्तिम दो कोटि के भिन्न लोकवासी प्रजातियों का उल्लेख प्राय: मिलता है।[२] अस्तु। लगता नहीं कि इस तालिका से भी अति-मानवीय जीवों की श्रेणियाँ पूरी हो गयी हैं। सम्भवत: केवल कुछ खूब चुनिंदा प्रधान श्रेणियों का ही उल्लेख किया गया है।

जीवों के विभिन्न लोकों की जो तालिका शास्त्रों में मिलती है, वह भी सम्पूर्ण नहीं प्रतीत होती। हिन्दू शास्त्रों के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस पृथ्वी के ऊपर तथा नीचे भिन्न-भिन्न लोक या जगत् विद्यमान हैं। ऊपर में स्वर्ग, नीचे पाताल और बीच में यह पृथ्वी या मर्त्यलोक है। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल – इन तीन लोकों के समष्टि-रूप ब्रह्माण्ड को त्रिभुवन या त्रिलोक कहते हैं। फिर और भी विस्तृत तालिका में चौदह भुवनों की सूचना मिलती है। पृथ्वी से आरम्भ करके भू:, भुव:, स्व:, जन, मह, तप:, सत्य – ये सात ऊपर के लोक हैं और अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल – इन सात नीचे के लोकों का उल्लेख प्राप्त होता है।[३] फिर कौशीतकी उपनिषद्[४] में अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक, आदित्यलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, तथा ब्रह्मलोक – इन सात ऊर्ध्व-लोकों का नाम मिलता है। ये पहले वर्णित सात ऊर्ध्व-लोकों से पूर्णत: भिन्न भी हो सकते हैं। तथापि ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन दोनों तालिकाओं के दोनों सर्वोच्च लोक – सत्यलोक तथा ब्रह्मलोक एक ही हैं। फिर शास्त्रों में कहीं-कहीं ऊर्ध्व-लोकों को पितृलोक, देवलोक तथा ब्रह्मलोक – इन तीन भागों में विभाजित किया गया है। इनमें से कोई भी तालिका परिपूर्ण नहीं प्रतीत होती। इन तालिकाओं का तात्पर्य आभासिक है। इनसे यह संकेत मिलता है कि यह ब्रह्माण्ड अनेक लोकों या जगतों की समष्टि है। ऐसा लगता है कि शास्त्रों में मात्र इनमें से कुछ प्रमुख लोकों का ही उल्लेख किया गया है।

इसी प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है। हिन्दुओं का विश्वास है कि प्रत्येक लोक के एक अधिष्ठातृ-देवता हैं। सामान्यत: इन देवता के नाम पर ही उक्त लोक का नामकरण होता है। द्वितीय तालिका के सात लोकों के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अधिष्ठातृ-देवता क्रमश: अग्नि, वायु, वरुण, आदित्य, इन्द्र, प्रजापति तथा ब्रह्मा हैं। इसी प्रकार अन्य सभी लोकों के भी अलग-अलग अधिष्ठातृ-देवता हैं।

हिन्दू धर्म के मतानुसार अखण्ड चैतन्य ही एकमात्र विश्वव्यापी अविनाशी सत्ता है। पंच-तन्मात्राओं से गठित अन्त:करण रूपी सूक्ष्म यंत्र के द्वारा ये चैतन्य हमारे अन्त:प्रकृति में प्रस्फुटित होते हैं। यह अन्त:करण भी एक सर्वव्यापी सत्ता है, क्योंकि यही सृष्टि के आदि में आविर्भूत विश्वव्यापी पुरुष हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) का शरीर है। और जिस स्थूल भौतिक यंत्र के द्वारा हम लोग कर्म सम्पादित करते हैं, वह भी विराट् का शरीर-रूप एक अखण्ड सर्वव्यापी सत्ता है।

हिरण्यगर्भ के रूप में ही ईश्वर की प्रथम अभिव्यक्ति होती है। इसके बाद विराट्-रूपी ईश्वर मानो स्वयं को असंख्य भागों में विभक्त करके देवता-प्रमुख असंख्य जीवों का रूप लेते हैं। इस प्रकार ईश्वर अपनी माया की शक्ति से अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। यह सच है कि प्रत्येक जीव में एक स्वतंत्र अहं-बोध है, परन्तु जीव विराट् का ही एक लघुतम अंश है। जैसे मनुष्य के स्थूल शरीर में असंख्य सजीव कोषिकाएँ निवास करती हैं, वैसे ही विराट् के शरीर में असंख्य जीवों का निवास है। हिन्दुओं के विश्वास में ऐसी ही दु:साहसिक उत्तुंगता है। हिन्दू शास्त्रों के मतानुसार जैसे चैतन्य सर्वव्यापी है, वैसे ही उसकी अभिव्यक्ति के सहायक समष्टिगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राण तथा मन और कर्म-निष्पादक स्थूल शरीर भी सर्वव्यापी है। अतएव जीव के आविर्भाव हेतु जो कुछ भी आवश्यक है, वह सब ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही विद्यमान है। इसलिये हिन्दुओं की दृष्टि में प्रत्येक लोक का एक अधिष्ठातृ-देवता होना सम्भवता की सीमा का उल्लंघन नहीं करता।

जीवात्मा

प्रत्येक प्राणी चेतन तथा अचेतन पदार्थों का एक अद्भुत सम्मिश्रण है। उसके चेतन अंश को ही हिन्दू शास्त्रों ने जीव कहा है। इस अर्थ में 'जीव' शब्द का यह विशेष प्रयोग है।

मन, इन्द्रियों तथा स्थूल देह से पृथक् आत्मा ही प्राणी का मुख्य अंश है। यही मानो गृहस्वामी है। कठोपनिषद में इसी को रथी[५] कहा गया है। यह आत्मा अन्तर्ज्योति[६] है; चैतन्य ही इसका स्वरूप है। सभी प्राणियों की चेतना का उद्‌गम यह जीवात्मा ही उनका चेतन अंश है। यही यथार्थ जीव है।

एक ही केन्द्र में, एक के पीछे एक स्थित – स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों के भीतर जीवात्मा का निवास है। स्थूल शरीर के उपादान स्थूल पंचभूत और सूक्ष्म शरीर के उपादान सूक्ष्म पंचभूत या पंच-तन्मात्राएँ हैं, इसीलिये इन दोनों को 'भौतिक' शरीर कहते हैं। जिस अव्यक्त विश्व-शक्ति से सारे पंचभूत तथा भौतिक शरीर की अभिव्यक्ति होती है, उसी का एक अति लघु अंश जीव का कारण-शरीर है। अव्यक्त विश्व-शक्ति तथा उसकी भूत-भौतिक आदि सारे मूर्त प्रकार जड़-स्वभाव हैं; अतएव जीव के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण – ये तीनों ही शरीर अचेतन हैं।

२. तैत्तिरीय उप., २/८
३. वेदान्त-सार, १०४
४. कौशीतकी उप., १/३
५. कठ उप., १/३/३
६. बृहदारण्यक उप., ४/३/७

जीव के गुण तथा संस्कार बीज-अवस्था में उसके कारण-शरीर में निहित रहते हैं। जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही कारण-शरीर से प्राणियों का जीवन प्रकट होता है। इसीलिये कारण-शरीर का यह नाम सार्थक है।

पहले के एक अध्याय में हमने देखा कि विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय नामक तीन कोषों को मिलाकर सूक्ष्म-शरीर बना है। ये तीनों कोष ज्ञान, संकल्प-विकल्प तथा प्राण-शक्ति के आधार हैं। बुद्धि तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर विज्ञानमय कोष, मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर मनोमय कोष और पाँच प्राण तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर प्राणमय कोष गठित हुआ है। ये सभी जीव के ज्ञान-प्राप्ति तथा कर्म-सम्पादन के सूक्ष्म यंत्र हैं।

जीवात्मा अपने पूर्वजन्मों के कर्म एवं संस्कारों के अनुसार अपने वर्तमान स्थूल शरीर का गठन करता है। इसीलिये शास्त्रों में स्थूल-देह को 'कार्य' तथा इससे पृथक् सूक्ष्म शरीर को 'करण' अर्थात् यंत्र कहा जाता है और इन दोनों को संयुक्त रूप से 'कार्य-करण-संघात' का नाम दिया गया है। अस्तु, स्थूल शरीर के निर्माण में प्रधान यंत्र प्राण (जीव-शक्ति) ही है।[७] पूर्व जन्मों के संस्कारों के अनुसार स्थूल-देह का निर्माण करने के लिये जीव इस प्राण-शक्ति को ही चालित करता है। जीव जब जिस लोक में निवास करता है, तब उसी लोक में प्राप्त भोजन से उसे स्थूल-देह के लिये उपादान प्राप्त होता है। इस प्रकार गठित स्थूल-देह तथा सूक्ष्म इन्द्रियों के माध्यम से जीव वस्तु-विश्व के सम्पर्क में आता है और दोनों के बीच निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया का रहस्यमय सम्बन्ध चलता रहता है।

जीवात्मा को आवृत्त करनेवाले ये तीनों शरीर ही अचेतन हैं – एकमात्र आत्मा ही चेतन है। शास्त्रों में इसे 'एकाकी संचारी हिरण्यमय पुरुष' कहा गया है।[८] पंचभूतों या भौतिक पदार्थों के समान यह सृष्ट वस्तु नहीं है। ईश्वर स्वयं ही जीवात्मा के रूप में मूर्त होते हैं। शास्त्र कहते हैं – "विश्व में जो कुछ भी विद्यमान है, उसकी सृष्टि करके वे स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गये हैं।"[९] छोटे-बड़े सभी जीवों के तीनों प्रकार के जड़-स्वभाव शरीरों की सृष्टि करके भगवान उनके भीतर जीवात्मा के रूप में निवास करते हैं। गीता में भगवान कहते हैं – "जीव लोक में मेरा ही एक अंश जीवों के रूप में प्रकट हुआ है।"[१०] इसी कारण शास्त्रों में जीवात्मा को अज, अमर, शाश्वत कहा गया है।[११] "जीव ब्रह्म ही है, अन्य कुछ भी नहीं। वस्तुत: जन्म, जरा तथा मृत्यु से रहित यह महान् आत्मा ही सनातन अभय ब्रह्म है।"[१२]

शास्त्रों की ऐसी उक्तियों से विशिष्टाद्वैत-वादी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जीवात्मा सचमुच ही ईश्वर का एक चिर-स्वतंत्र आण्विक अंश है। अग्नि के स्फुलिंग के समान जीव मानो ईश्वर का एक कण है। दोनों के बीच कोई स्वभावगत भेद नहीं है; जीवात्मा भी दिव्य-स्वभाव का है। परन्तु सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान, सर्वव्यापी ईश्वर पूर्ण है, और जीव उसका एक अति सूक्ष्म अंश है। एक अन्य भेद भी है – जीव में विकार होते हैं, ईश्वर में नहीं होते। गर्हित आचरण से उत्पन्न अशुद्धि से जीवात्मा संकुचित हो जाती है और उसका स्वाभाविक दिव्यत्व अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु इस प्रकार संकुचित हुई जीवात्मा यथायुक्त अध्यात्म-साधना के प्रभाव से क्रमश: विकसित होकर एक दिन अपना परिपूर्ण दिव्यत्व अभिव्यक्त करती है। तब वह श्री भगवान के सान्निध्य में शाश्वत शान्ति का भोग करने में समर्थ होती है। जीवात्मा का स्वरूप और उसके बन्धन तथा मुक्ति के विषय में भक्तिवादी सम्प्रदायों का मत प्राय: एक समान ही है।

परन्तु अद्वैतवादियों की धारणा अन्य प्रकार की है। वे लोग कहते हैं – व्यष्टि आत्मा परमात्मा के अंश-रूप में आभासित तो होती है, परन्तु वह सर्वव्यापी, सर्व-भयमुक्त उन सनातन ब्रह्म के साथ अत्यन्त अभिन्न है। सारे उपनिषद् जीव तथा ब्रह्म के एकत्व की घोषणा करते हैं। जीव तथा ब्रह्म की अभिन्नता के कारण ही आत्मा की स्वरूप-उपलब्धि से ही जीव की मुक्ति सम्भव हो पाती है। जब तक जीव अविद्या के वशीभूत रहकर स्वयं को ईश्वर और बाकी विश्व से पृथक् एक क्षुद्र सत्ता समझता है, तभी तक वह बद्ध है। साधना के द्वारा परमात्मा के साथ अपनी एकात्मता का बोध प्राप्त कर लेने से ही उसकी संसार से मुक्ति होती है। इसीलिये शास्त्र कहते हैं – "श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की सहायता से आत्मा की प्राप्ति करनी होगी।"[१३]

जीवात्मा सत्-चित्-आनन्द के असीम समुद्र-रूपी शाश्वत परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। अव्यक्त आदि अन्य सारी सत्ताएँ ही सापेक्ष हैं। जब तक अविद्या का प्रभाव है, तभी तक उनका अस्तित्व है। आत्मज्ञान का उदय होते ही वे स्वप्न के समान शून्य में विलीन हो जाते हैं। और जब तक वे विद्यमान रहते हैं, तब तक उनके माध्यम से परमात्मा स्वयं को अगणित तथा विभिन्न पदार्थों की मूर्तियों में रूपायित करते हैं। उनका स्थूल, सूक्ष्म आदि विविध प्रकार के गठन असीम निराकार परम सत्ता को भिन्न-भिन्न ससीम साकार रूपों में प्रतिभात करता है। इसीलिए इन्हें उपाधि कहते हैं।

---

७. वस्तुत: यह एक अखण्ड सत्ता है, तथापि अपनी विभिन्न क्रियाओं की दृष्टि से सामान्यत: यह पंचप्राण के रूप में परिचित है।

८. बृहदारण्यक उप., ४/३/११ ९. तैत्तिरीय उप., २/६

१०. गीता, १५/७ ११. कठ उप., १/२/१८

१२. बृहदारण्यक उप., ४/४/२५ १३. वही, २/४/५

परब्रह्म, समग्र अव्यक्त (कारण) की उपाधि के द्वारा सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता सर्वज्ञ तथा सर्व-शक्तिमान ईश्वर के रूप में मूर्त होते हैं। समष्टि बुद्धि के माध्यम से उनकी हिरण्यगर्भ के रूप में और व्यष्टि बुद्धि के माध्यम से जीव के रूप में अभिव्यक्ति होती है। जैसे विभिन्न रंगों के काँचों से होकर एक ही सूर्य के अनेक तथा विविध रूप देखने में आते हैं, वैसे ही विभिन्न व्यष्टि बुद्धियों के माध्यम से एक ही परमेश्वर अगणित विविध जीवों के रूप में प्रकट होते हैं।

ज्ञान तथा कर्म का सूक्ष्मतम भौतिक यंत्र बुद्धि है। इसका आश्रय स्थूल-शरीर में निहित विज्ञानमय कोष है। शास्त्रीय विवरण से पता चलता है कि सूक्ष्म-शरीर की आकृति भी स्थूल-शरीर के अनुरूप ही है और उसका आकार अंगूठे के परिमाप का तथा निवास हृदय में है।

बुद्धि जड़-स्वभाव तो है, परन्तु यह सर्वव्यापी ब्रह्म-चैतन्य के प्रभाव से सहज ही चैतन्यमय हो उठती है। जैसे सूर्य की किरणों से आलोकित चन्द्रमा स्वयंप्रभ प्रतीत होता है, वैसे ही बुद्धि भी परमेश्वर के सर्वव्यापी चैतन्य के संस्पर्श से संजीवित होकर स्वयं-चेतन स्वतंत्र-अहंयुक्त जीव के रूप में प्रतीयमान होती है। ईश्वर ही जीव की चेतना के मूल उद्गम हैं। बुद्धि की चेतना पूर्णत: पराई है, वह उधार लिये हुए आलोक से दीप्त होती है। बुद्धि में मानो ईश्वर का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है।

प्रतिबिम्ब तो आलोक के परावर्तन से उत्पन्न एक अध्यास या भ्रम मात्र है। जिस वस्तु से आलोक परावर्तित होता है, उसी में उस आलोक के मूल उद्गम का एक स्पष्ट चित्र दिखाई देता है; उसी को प्रतिबिम्ब कहते हैं। यथा जब पानी सूर्य की किरण को परावर्तित करता है, अर्थात् जब उस किरण को एक अन्य दिशा में मोड़ देता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि वह परावर्तित किरण पानी से ही निकल रही है और उस ओर देखने से पानी के भीतर सूर्य की एक प्रतिमूर्ति दिखाई देती है। इस आपात-प्रतीयमान प्रतिमूर्ति को ही हम प्रतिबिम्ब कहते हैं। बुद्धि में ईश्वर का प्रतिबिम्ब भी इसी प्रकार का आपात-प्रतीयमान एक अवास्तविक सत्ता है।

ब्रह्म चिर-स्थिर, सर्वव्यापी, निर्विकार चैतन्य-स्वरूप है। यह ब्रह्म-चैतन्य अचेतन बुद्धि से परावर्तित होने के कारण बुद्धि के भीतर चेतना का एक सूक्ष्म उद्गम है, ऐसा भ्रम पैदा होता है। चेतना के इस भ्रमात्मक सूक्ष्म उत्स को ईश्वर का प्रतिबिम्ब कहा जाता है। मुण्डक उपनिषद् में इसका आकार अणु के समान कहा गया है।[१४] ईश्वर वास्तव में स्वयं को असंख्य भागों में विभक्त करके भिन्न-भिन्न सूक्ष्म विज्ञानमय कोषों का आश्रय लेकर निवास नहीं करते। जैसे विभिन्न पात्रों में स्थित जल में एक ही सूर्य के भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, ठीक वैसे ही भिन्न-भिन्न व्यष्टि बुद्धि में एक ही ईश्वर असंख्य अणु-सदृश स्वतंत्र जीवात्माओं के रूप में प्रतीयमान होते हैं।

ईश्वर के ये प्रतिबिम्ब, अर्थात् बुद्धि द्वारा उधार लिये हुए ये चैतन्य ही जीव-देह में एकमात्र चेतन सत्ता हैं। यही जीवात्मा है। इसी को जीव कहते हैं। बुद्धि में प्रतिबिम्बित ईश्वर ही जीव के अहंकार का मूल है। 'मैं' शब्द का यथार्थ लक्ष्य यही है। यह आत्मा ही "स्वयंज्योति विज्ञानमय पुरुष हैं, जो इन्द्रियों से आवेष्ठित होकर हृदय में निवास करता है।"[१५]

जीव-देह में बुद्धि आदि अन्य जो कुछ भी रहता है, वह सभी जीवात्मा का यंत्रमात्र है। जीव के अचेतन अंग जीवात्मा के सान्निध्य से आलोकित हो उठते हैं। जैसे लोहे का एक पिण्ड आग में पड़ने से आग के समान ही लाल होकर प्रकाश तथा ताप विकिरित करता रहता है, वैसे ही बुद्धि-मन-इन्द्रियाँ और यहाँ तक कि स्थूल-शरीर भी जीवात्मा के सान्निध्य से मानो उन्हीं के समान चैतन्यमय हो उठता है।

आत्मा की चेतना इस प्रकार प्रकट होने पर मन, बुद्धि आदि ज्ञान-आहरण तथा कर्म-सम्पादन के यंत्र सक्रिय हो उठते हैं। सर्वव्यापी ब्रह्म-चैतन्य के प्रभाव से अन्त:करण के सूक्ष्मतम यंत्र – बुद्धि में ही सर्वप्रथम यह विस्मयकर परिणाम घटित होता है। इसी कारण कहते हैं कि ईश्वर मानो बुद्धि में ही प्रतिबिम्बित होते हैं। अस्तु, बुद्धि इस प्रकार सचेतन होकर कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व में लिप्त हो जाती है। परन्तु बुद्धि के इस कार्य में, भ्रमवश लगता है कि आत्मा स्वयं ही लिप्त हो जाती है। जैसे तरंगायित हो रहे जलराशि में स्थिर सूर्य का प्रतिबिम्ब भी हिलता-डुलता देखने में आता है, वैसे ही चिर-शान्त सर्वव्यापी परमात्मा का जीवात्मा-रूपी प्रतिबिम्ब भी बुद्धि के स्पन्दन के कारण स्पन्दित होता प्रतीत होता है। वस्तुत: आत्मा कर्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। बुद्धि में आत्मा का भ्रम हो जाने के कारण ही आत्मा कर्ता और भोक्ता प्रतीत होता है। इसी कारण जीवात्मा को विज्ञानमय कहते हैं। वस्तुत: ब्रह्म से अभिन्न चैतन्य-स्वरूप आत्मा अपने प्रभाव से बुद्धि को संजीवित करके स्वयं जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में नित्य-साक्षी के रूप में पूर्ण निर्लिप्त भाव से निवास करता है।

❖ **(क्रमश:)** ❖

१४. मुण्डक उप., ३/१/९ – 'एषोऽणुरात्मा।'

१५. बृहदारण्यक उप., ४/३/७

माँ श्री सारदा देवी (१)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर माह में पहली बार प्रकाशित हुई थी। प्रकाशक थे : सन्तोष कुमार घोष, पाइकपाड़ा, वेलगछिया, कोलकाता। अब (दिसम्बर १९९५) तक इस ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण नहीं हुआ है। ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने कहा है, "इसमें केवल वे ही सब बातें लिपिबद्ध हुई हैं, जिन्हें लेखक ने अपनी आँखों से देखा है या माँ के श्रीमुख से सुना है।" श्रीमाँ के प्रथम जीवनीकार ब्रह्मचारी अक्षय चैतन्य ने अपने 'श्रीमाँ सारदा देवी' ग्रन्थ में बहुत-सी सामग्री लेखक से ली थी। उस समय तक लेखक का ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था। माँ की सबसे बृहत् और सर्वाधिक प्रमाणिक जीवनी स्वामी गम्भीरानन्द जी द्वारा रचित 'श्रीमाँ सारदा देवी' में भी इस ग्रन्थ से बहुत कुछ लिया गया है। इसके सिवा माँ की जो अन्य जीवनियाँ प्रकाशित हुई हैं, उन सबमें इस ग्रन्थ से सामग्री ली गयी है। यहाँ भी मूल ग्रन्थ के प्रथम तीन अध्याय संकलित हुए हैं। मूल रचना में लेखक की अपनी जो सारी पादटीकाएँ थीं, उन्हें वैसे ही रखा गया है। जो पादटीकाएँ यहाँ जोड़ी गयी हैं, उनका स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१८९८ ई. के २२ अप्रैल, शुक्रवार की बात है। मैं लगभग ढाई बजे सारदा महाराज (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) के साथ १०/२ बोसपाड़ा लेन गया। उस समय – वह किसका मकान है, वहाँ कौन रहता है, वहाँ मैं क्यों गया था आदि कुछ नहीं जानता था। घर की निचली मंजिल में पहले ही पूर्व और पश्चिम में दो कमरे थे। बीच में मुख्य दरवाजा था। उसी दरवाजे से जाकर दक्षिण की ओर के कमरे में जाकर देखा – एक साधु लेटे हैं। साधु ने सारदा महाराज से मेरे बारे में पूछा – "यह क्या तुम्हारा भाई है?" उन्होंने कहा – "हाँ।"[1] साधु बोले – "लेकिन माँ अभी विश्राम कर रही हैं, ठाकुर के जागने के बाद कहूँगा।"

ये 'माँ' कौन हैं – मेरी समझ में कुछ भी नहीं आया, तब तक माँ के बारे में कुछ नहीं जानता था, यहाँ तक कि यह भी नहीं जानता था कि वे श्रीरामकृष्ण की कौन हैं। वैसे श्रीरामकृष्ण के बारे में मैंने कुछ-कुछ सुना था और एक बार (४-५ वर्ष की आयु में मैं) अपनी माँ की गोद में चढ़कर श्यामपुकुर बाटी में (उन्हें) देखा था, पर कुछ याद नहीं था। अस्तु, साधु का नाम – मैंने बाद में जाना – योगीन महाराज (स्वामी योगानन्द) था। उनके संकेत पर कमरे के एक कोने में रखी एक कटोरी में थोड़ा दूध-भात लाकर थोड़ा सारदा महाराज को दिया और बाकी मैंने खाया। बड़ा स्वादिष्ट लगा। सुना – वह माँ का प्रसाद था। बारम्बार 'माँ' का नाम सुनकर सोचा – शायद वे इन साधु की माँ होंगी।

थोड़ी देर विश्राम करने के बाद शाम को चार बजे के बाद ऊपर के कमरे में जमीन पर एक कटोरी रखने का शब्द सुनने पर योगीन महाराज ने कहा – "अब तुम लोग जाओ, माँ ने ठाकुर को जगा दिया है।" सारदा महाराज नहीं गये – लेखक को पश्चिम के कमरे के उपर सीढ़ी दिखाकर ऊपर जाने को कहा। उनके आदेश से ऊपर जाकर पहले अर्थात् पश्चिम के कमरे में किसी को न पाकर पूर्व की ओर के कमरे में एक स्त्री को बैठे देखा। मुझे देखकर ही वे पुकार कर बोली – "तुम सारदा के भाई हो? मठ में जाओगे? ठीक है। थोड़ी मिठाई खाओ।" उन्होंने मुझे तिल की दो बर्फियाँ और पानी दिया। खाकर मैं चला आ रहा था, तो उन्होंने बुलाकर कहा – "प्रणाम नहीं किया?" मैं हड़बड़ा कर प्रणाम करने चला, तो (उन्होंने) सामने ठाकुर को दिखा दिया। बारी-बारी से ठाकुर को और उन्हें प्रणाम करने पर उन्होंने मेरी ठुड्डी छूकर अपना हाथ चूम लिया।

मठ जाते समय सारदा महाराज से माँ के बारे में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे ही 'श्रीमाँ' हैं। मैंने फिर पूछा – "क्या आपने पहले ही स्वयं या किसी से कहलवा दिया था कि मैं आपका भाई हूँ?" उन्होंने अस्वीकार किया, बोले – "नहीं।"

इस प्रकार माँ से परिचित होने के बाद दूसरी बार जिस दिन (उनका) दर्शन किया, वह मेरे लिए एक अविस्मरणीय दिन है। वह १५ मई, १८९८ ई., रविवार का दिन था। मैं सुबह उठकर माँ की दैनन्दिन पूजा के लिए मठ से फूल तोड़

१. लेखक स्वामी त्रिगुणातीतानन्द (पूर्व नाम सारदा प्रसन्न मित्र) के सहोदर भाई हैं। उन्होंने रामकृष्ण संघ में योगदान दिया। संन्यास के बाद उनका नाम हुआ स्वामी सत्यकामानन्द। अपने संघ-जीवन में उन्हें श्रीमाँ, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द आदि श्रीरामकृष्ण के सभी पार्षदों के स्नेह-सान्निध्य में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सुदीर्घ काल (तेरह वर्षों) तक उन्हें माँ की सेवा का सौभाग्य भी मिला था। माँ प्यार से उन्हें 'मेरा कार्तिक' कहकर बुलाया करती थीं। बाद में दुर्भाग्यवश उन्हें संघ छोड़कर चले जाना पड़ा था। – सम्पादक

लाया। नीचे योगीन महाराज थे। बोले – "तू तो छोटा है, सीधा ऊपर चला जा।" (तब मेरी आयु अठारह वर्ष थी)। माँ उसी समय पूजा के आसन पर बैठी थीं। उन्होंने फूल ले लिये और मुझे अपने पास ही एक अन्य आसन पर बैठने का आदेश देकर बोलीं – "पहले पूजा समाप्त कर लूँ।"

लगभग आधे घण्टे बाद पूजा समाप्त होने पर मेरी ओर मुड़कर बोलीं – "मंत्र लोगे?" मैं अवाक् रह गया। मन में चाहे जो भी रहा हो, पर इन्हें तो मैंने कुछ भी नहीं बताया – इन्होंने मन की बात कैसे जान ली? अस्तु, उन्होंने मुझे श्रीचरणों में स्थान दिया। उनके समीप ही एक पका फल रखा था। उसे मेरे हाथ में देकर बोलीं – "मुझे दो। दिया जाता है, बेटा।" उन्हीं की चीज उन्हें दक्षिणा में दी गयी।

इस दौरान मैं बीच-बीच में (माँ के पास) जाने लगा। एक दिन सुबह करीब आठ बजे योगीन महाराज और कृष्णलाल (बाद में स्वामी धीरानन्द) माँ को मठ में ले आये। साथ में गोलाप-माँ (ठाकुर तथा माँ की स्त्रीभक्त) भी थीं। मठ उस समय बेलूड़ के नीलाम्बर मुखोपाध्याय के उद्यान में था। माँ की नौका घाट पर लगते ही मठ में शंखध्वनि गूँजने लगी। माँ के उतरते ही उनके श्रीचरण धोकर ठाकुरबाड़ी के दालान में बिठाकर पंखा झला जाने लगा। ग्रीष्मकाल था, गर्मी बहुत पड़ रही थी। नन्दलाल भोग की व्यवस्था करने गये। सुशील महाराज (स्वामी प्रकाशानन्द) के साथ मैं भी माँ की सेवा में लग गया। मठ के बड़े-छोटे सभी एक-एक कर प्रणाम कर गये। विश्राम के बाद माँ पूजा-घर में गयीं। पूजा की तैयारी पहले ही हो चुकी थी। पूजा के बाद (उन्होंने) लड़कों को नाश्ता देने का आदेश दिया। नन्दलाल ने श्रीमाँ और गोलाप-माँ को मिश्री का शर्बत और ठाकुर का प्रसादी फल तथा मिष्ठान्न दिया। बचा हुआ प्रसाद वे रसोई घर में ले गये। हम दोनों में से कोई माँ का मुँह धोने के लिए जल की व्यवस्था करने लगा और कोई पंखा झलता रहा। माँ ने खाते-खाते दोनों को प्रसाद दिया – जिसे पाकर हम कृतार्थ हो गये।

इसके बाद भोग आने पर माँ ने ठाकुर को भोग देकर शयन कराया। नन्दलाल ने उनके तथा गोलाप-माँ के भोजन की व्यवस्था दालान में कर दी। माँ ने दूध-भात मिलाने के बाद उसमें आम का रस और चीनी मिलाया। उनका उद्देश्य समझकर नन्दलाल से एक खाली कटोरी मँगवायी गयी। कटोरी आ जाने पर माँ से उसमें लड़कों के लिए प्रसाद देने तथा पहले की कटोरी में अपने लिए रखने का अनुरोध किया गया। पहले तो माँ राजी नहीं हुईं, पर बहुत कहने के बाद उन्होंने अपने लिए थोड़ा-सा रखकर बाकी सब दे दिया। नन्दलाल द्वारा उसे ले जाने पर माँ खाने बैठीं। खाते-खाते पूछने लगीं – कौन कहाँ रहता है, क्या खाता है, वहाँ कौन सोता है, कौन ठाकुर की पूजा करता है, आदि आदि।

भोजन समाप्त होने पर एक चटाई बिछा दी गयी। माँ ने उस पर अर्धनिद्रा में विश्राम किया। गोलाप-माँ फर्श पर सोकर खर्राटे भरने लगीं। हम दोनों बारी-बारी से भोजन कर आये। शाम के चार बजे माँ ने ठाकुर को जगाया। नाश्ते के बाद उनके लौटने की तैयारी होने लगी। एक-एक कर मठ के सभी लोगों ने आकर माँ को प्रणाम किया।

माँ अब नाव पर चढ़ेंगी। गोलाप-माँ, योगीन महाराज और कृष्णलाल उनके साथ जायेंगे। जैसे ही माँ चलने लगीं, वैसे ही कृष्णलाल राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) की प्रार्थना लेकर आये। उनकी आन्तरिक प्रार्थना थी – "जाने के पूर्व माँ मठ की नयी भूमि पर एक बार अपनी चरणधूलि दे जायँ।" अत: यह निश्चित हुआ कि माँ वहाँ नाव से जायेंगी। योगीन महाराज पैदल ही उस जमीन पर गये। माँ, गोलाप-माँ, कृष्णलाल, सुशील तथा लेखक नाव से गये। माँ ने करीब पूरी जमीन ही घूम-घूमकर देखा। उन दिनों भगिनी निवेदिता, श्रीमती बुल तथा मिस मैक्लाउड वहीं रहती थीं। समाचार पाकर वे आयीं और माँ को साथ ले जाकर जमीन दिखाने लगीं। जमीन देखकर माँ सन्तुष्ट होकर बोली – "इतने दिनों बाद लड़कों को सिर रखने की एक जगह मिली। अहा, वे लोग आज यहाँ, कल वहाँ – भटक रहे थे। इतने दिनों बाद ठाकुर ने मुख उठाकर देखा है।"

माँ नाव में चढ़ीं। सुशील और लेखक रह गये, वे पैदल मठ लौटेंगे। उनके मन की बात समझकर माँ उन्हें बुलाकर कह गयीं – "चिन्ता मत करना, मैं तो हूँ ही, मन खराब होने पर बीच-बीच में वहाँ आना।"

पहले ही कहा गया है, भोजन के बाद माँ अधलेटी होकर विश्राम करते हुए बातें कर रही थीं। उन बातों में से जो प्रकाशन के योग्य हैं, उन्हें यहाँ दिया जा रहा हैं।

उन्होंने कहा था – "जब मैं इस मकान में थी, उस समय सारदा भी मेरे पास रहता था। वह क्या करता था, जानते हो?" हम लोगों द्वारा सुनने का आग्रह दिखाने पर वे उँगली से ठाकुर-भण्डार के पश्चिम की ओर दिखाकर बोलीं, "वहाँ एक हरसिंगार का पेड़ है क्या?" मैंने कहा – "हाँ माँ, है।"

माँ – "(सारदा) प्रतिदिन शाम को एक चादर धोकर उसे सुखाकर रख लेता। रात को सोने के पहले वह उसे पेड़ के नीचे बिछा देता। सुबह उठकर फूल तोड़ते समय चादर को समेटकर उस पर जितने फूल पड़े रहते, सब ले जाकर मेरी पूजा के लिए सजाकर रख देता। हरसिंगार रात के आखिरी पहर में झरता है न, इसीलिए ऐसा करता कि कहीं गन्दी जगह में गिरकर अशुद्ध हो जाय। देखो, कैसी निष्ठा थी !

सुशील महाराज ने पूछा – "और माँ, यहीं पर तो आपने ठाकुर को गंगा में विलीन होते देखा था?"

माँ ने कहा – "हाँ बेटा, उस दिन पूर्णिमा थी। चाँद निकला था। मैं उन सीढ़ियों के ऊपर बैठी गंगा को देख रही थी। देखा – पीछे से ठाकुर आकर तेजी से सीढ़ियाँ उतरकर गंगा में जाकर उसमें विलीन गये। मुझे रोमांच हो आया। विस्मित होकर मैं देखने के लिए खड़ी हो गयी। तभी न जाने कहाँ से नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) गंगा-तट पर आया और दोनों हाथों से उस जल को छिड़कने लगा। ओ माँ, देखा कि असंख्य लोग न जाने कहाँ से आकर नरेन के हाथों का जल पाकर मुक्त होते जा रहे हैं! यह देखने के बाद मैं कई दिनों तक गंगा में नहीं उतर सकी।"

सुशील महाराज बोले – "वही तो हुआ है माँ, स्वामीजी ने विश्व-विजय कर डाला है।"

माँ – "पर यह सब पंचतपा करने के बाद देखा था।"

लेखक के पंचतपा के बारे में बताने का अनुरोध करने पर वे बताने लगीं – "ठाकुर के देहत्याग के बाद मुझे लगने लगा कि मैं अब नहीं रह पाऊँगी। मन में केवल यही आता – ऐसे सोने के ठाकुर चले गये, तो मैं अब क्यों रहूँ? कुछ भी अच्छा नहीं लगता, किसी के साथ बातें करने की इच्छा नहीं होती। लड़के मेरी मनोदशा देखकर यह सोचकर मुझे तीर्थों में घुमाने लगे कि सम्भव है इससे मेरा मन स्थिर हो जाय। लाटू (स्वामी अद्भुतानन्द), योगीन (स्वामी योगानन्द), बूढ़े गोपाल (स्वामी अद्वैतानन्द), काली (स्वामी अभेदानन्द), शरत् (स्वामी सारदानन्द) – ये लोग साथ जाने लगे।

"जब मैं काशी में थी, एक नेपाली लड़की मेरे पास खूब आती, वह साध्वी थी, अनेक प्रकार के अनुष्ठान जानती थी, मेरी हालत देखकर एक दिन उसने कहा – 'माई, पंचतपा करो।' अहा, वह बड़ी भली लड़की थी। उसके कहने के बाद से केवल यही लगता – शायद पंचतपा करने से मेरे मन की ज्वाला शान्त हो। शरीर रखने की चेष्टा करने लगी। एक दिन तो ठाकुर ने कहा था – 'तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी, तुम्हें रहना होगा।' उन दिनों कभी लगता – 'नहीं, शरीर नहीं रखूँगी – क्या होगा शरीर रखकर?' फिर ठाकुर की बात याद आने पर शरीर रखने की चेष्टा करने लगी।

"जो दिन बीते हैं, तुम लोगों को अब क्या बताऊँ! उसके बाद पूर्णिमा की रात को जब ठाकुर को गंगा में मिल जाते देखा, तभी से शरीर रखने का निश्चय किया। ठाकुर की बात याद आने लगी। उन्होंने कहा था – 'तुम्हारा जाना अभी नहीं होगा। तुम्हें रहना होगा। मैंने भला कितनों को देखा है? तुम्हारे पास ढेरों आयेंगे – उनका भार तुम्हारे ऊपर है' – यही सब बातें याद आने लगीं और सारी रात नींद नहीं आई। सुबह योगेन (स्त्रीभक्त) को पंचतपा के लिए व्यवस्था करने को कहा। गोलाप और योगीन ने छत पर मिट्टी डालकर उपलों की व्यवस्था की। उसके बाद जिस दिन पंचतपा करना था, वह दिन आने पर मेरी छाती धड़धड़ करने लगी – भय होने लगा कि किस प्रकार आग में प्रवेश करूँगी! जरा सोचकर देखो – पाँच-पाँच हाथ की दूरी पर उपलों की आग के चार मोटे बेड़े गोलाई में रखे हुए – धू-धू कर जल रहे हैं, और सिर पर दोपहर का प्रचण्ड सूर्य तप रहा है – भयंकर गर्मी का मौसम था। सोच रही थी कि गंगा में स्नान करके आकर उस आग में प्रवेश करूँगी। योगेन (माँ) ने साहस बँधाते हुए कहा – 'माँ, प्रवेश करो – भय क्या है?'

"उसकी बातों से साहस पाकर ठाकुर का स्मरण करके घुस गयी। बीच में जाकर बैठी। शाम तक बैठी रही। इसी प्रकार पाँच दिन किया। शरीर जले हुए काठ के समान हो गया था, तब जाकर मन की अग्नि शान्त हुई।"

सुशील महाराज बोले – "आपको इतना करने की क्या जरूरत थी?" उन्होंने कहा – "बेटा, जानते हो क्यों? तुम लोगों के लिए। लड़के क्या इतना कर सकेंगे? देखते नहीं – गोलाप कैसे निश्चिन्त होकर सो रही है! इसीलिए करना पड़ा। मैंने किया ही क्या है! ठाकुर ने कितना कुछ किया!

इस घटना अर्थात् माँ के नीलाम्बर मुखोपाध्याय के उद्यान में स्थित मठ में आगमन के बाद १०/२ बोसपाड़ा लेन में पहली बार उनके फोटो लिये गये।[२] वे दो चित्र श्रीमती बुल की व्यवस्था के अनुसार तथा उन्हीं के खर्च से १८९८ ई. में खिंचवाये गये थे।[३] श्रीमती बुल, भगिनी निवेदिता और मिस मैक्लाउड उन दिनों बेलूड़ में वर्तमान मठ के पुराने दो कमरों में अर्थात् जिन दो कमरों के ऊपर वर्तमान में मठ निर्मित हुआ है, उसी में रहती थीं।[४]

इस घटना के बाद हमें दो बार माँ के घर में ठहरना पड़ा – पहली बार तीन दिन और दूसरी बार दो दिन। इन दिनों परमभक्त नाट्य-सम्राट गिरीशचन्द्र हर रात दूसरे या तीसरे पहर थियेटर से लौटते और गाड़ी रुकते ही नशे की हालत में 'शशी की माँ' नामक एक लाई बेचनेवाली को सैकड़ों गालियाँ देते हुए अपने घर में घुसते। शशी की माँ उन दिनों अपने दुकान में सोया करती थी। रोज गिरीशचन्द्र के चिल्लाने से हमारी नींद टूट जाती और अगले दिन सुबह माँ से सुनता कि गिरीशचन्द्र के ऐसा करने से उन्हें बड़ा डर लगता है।

माँ का घर गिरीशचन्द्र के घर के उत्तर में था, बीच में एक पतली गली थी। अत: गाड़ी आकर माँ के घर के सामने ही रुकती और मदमत्त गिरीशचन्द्र का मुस्टण्डा नौकर मातादीन उन्हें सँभालकर ले जाता। ❖ (क्रमशः) ❖

---

२. यहाँ लेखक की स्मृति में भूल हुई है। माँ का पहला फोटो निवेदिता के १६ नं. बोसपाड़ा लेन के आवास पर लिया गया था। – सम्पादक

३. उस वर्ष नवम्बर में दो नहीं, तीन फोटो खींचे गये थे। – सम्पादक

४. पुराना मठ अर्थात् 'स्वामीजी के भवन' का निचला तल। – सं.

अभ्यास का महत्व

स्वामी आत्मानन्द

जीवन के हर क्षेत्र में अभ्यास की बड़ी महिमा है। किसी भी क्रिया को इस प्रकार दुहराना कि वह सहज हो जाय, अभ्यास कहलाता है। अभ्यास की प्रारम्भिक प्रक्रिया उबाऊ और कष्टदायक होती है। पर जब अभ्यास सध जाता है, तब वही प्रक्रिया हमारे लिए सहज होकर सुखकर हो जाती है। हम तैरने का अभ्यास करते हैं। पहले-पहल अंग-अंग टूटने लगते हैं, देह थकावट से चूर हो जाती है। पर जब तैरने का अभ्यास सध जाता है, तब हम अपनी थकावट दूर करने तैरने जाते हैं। जाकर पानी पर चित लेट जाते हैं। हाथ-पैर तनिक नहीं हिलते। पर इस क्रियाहीन दिखनेवाली स्थिति को साधने के लिए हमें कितना अभ्यास करना पड़ता है यह तो वही जानता है, जो इस प्रक्रिया से गुजरा है।

हमें रविशंकर का सितारवादन बड़ा चमत्कृत करता है। पर उनके उस मुग्धकारी सितारवादन के पीछे अभ्यास निहित है। जब हम टाइप करना सीखते हैं, तो धीरे धीरे अपनी उँगली देख-देखकर की-बोर्ड पर रखते हैं। हमारा ध्यान तनिक इधर-उधर बँटा नहीं कि भूल हो जाती है। पर जब अभ्यास सध जाता है, तब हम दूसरों से बात करते हुए भी टाइपिंग कर लेते हैं, हमें की-बोर्ड की ओर देखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। मानो हमारे मन का एक भाग अभ्यास के फलस्वरूप टाइपिंग की क्रिया से सदैव जुड़ा रहता है।

जैसे भौतिक क्षेत्र में मनुष्य की सफलता अभ्यास पर निर्भर रहती है, वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सफलता का रहस्य अभ्यास ही है। हमारा मन बड़ा चंचल है। उसकी चंचलता को समझाने के लिए स्वामी विवेकानन्द एक बन्दर की उपमा देते हैं। बन्दर स्वभाव से चंचल होता है। कल्पना करें इसे शराब पिला दी गयी है। वह कितना चंचल न हो जायेगा। अब और मान लें कि उस मस्त बन्दर को बिच्छू ने डंक मार दिया है। फलस्वरूप हम बन्दर की जितनी चंचलता की कल्पना करेंगे, हमारा मन वैसा ही चंचल है। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे चंचल मन को अपने काबू में किया जा सकता है? इस पर प्रतिप्रश्न किया जा सकता है कि मन को काबू में लाने की क्या जरूरत? इसका उत्तर यह है कि चंचल मन वाला व्यक्ति न दुनिया में सुख से रह सकता है और न अध्यात्म के क्षेत्र में ही प्रगति कर सकता है। चंचल मन वाले विद्यार्थी परीक्षा में सन्तोषजनक रूप से उत्तीर्ण नहीं हो पाते। चंचल मन वाला व्यवसायी अपने व्यवसाय में मन नहीं लगा पाता। इसलिए उसे अभीष्ट सफलता भी नहीं मिल पाती। चंचल मन के द्वारा जब यह लोक ही नहीं सधता, तब उससे अध्यात्म सधने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः चंचल मन को निग्रह में लाना सभी दृष्टि से आवश्यक है। पर प्रश्न यह है कि क्या ऐसा चंचल मन काबू में लाया जा सकता है?

यही प्रश्न अर्जुन ने श्रीकृष्ण से किया था। पूछा था –

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

– कृष्ण, मन तो अत्यन्त चंचल है, उसका स्वभाव ही मथने का है, वह बड़ा बली और जिद्दी है। उसको काबू में लाना मैं वैसा ही कठिन मानता हूँ, जैसे वायु को वश में करना।

इसके उत्तर में श्री कृष्ण अर्जुन की बात नहीं काटते, उसका समर्थन करते हैं, पर साथ ही वे यह भी स्वीकार नहीं करते कि मन को वश में नहीं लाया जा सकता। वे कहते हैं –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

– हे महाबाहो, निःसन्देह मन अत्यन्त चंचल और दुर्जय है, पर हे कुन्तिपुत्र, ऐसे मन को भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा काबू में लाया जा सकता है।

यहाँ पर भगवान् कृष्ण ने 'अभ्यास' शब्द का उपयोग किया है। अभ्यास के द्वारा दुर्जय मन को भी वश में किया जा सकता है। जो बात पहले सागर को पार करने के समान दुष्कर मालूम पड़ती है, अभ्यास के द्वारा वही गोष्पद को लाँघने के समान सहज हो जाती है।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। एक ग्वाला रोज गाय के बछड़े को हाथों में लेकर उठा लेता। बछड़ा बढ़ता गया, पर ग्वाला रोज ही उसे उठा लेता। एक दिन वह बछड़ा भारी-भरकम साँड़ बन गया, पर ग्वाला उसे भी उठाकर सबको चमत्कृत कर देता। उसका राज यह था कि वह उसे उसके बचपन से ही रोज उठाता आ रहा था।

यही अभ्यास का चमत्कार है। कहा भी तो है – **रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान** – बाल्टी की रस्सी रोज कुएँ के पत्थर पर चल-चलकर उसे काट देती है। यह अभ्यास की क्षमता है। ❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द और नव्य वेदान्त

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

(डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी भारतीय दर्शन तथा साहित्य के भारतवर्ष के शीर्षस्थ विद्वानों में अग्रणी हैं। वे प्रयाग स्थित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष तथा उज्जैन स्थित विक्रम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से अध्यक्ष के रूप में सेवानिवृत हुए हैं। वे राष्ट्रीय प्राध्यापक हैं। आगम, दर्शन तथा साहित्य-शास्त्र उनकी चालीस से अधिक पुस्तकें हिन्दी-जगत् की अनुपम निधि हैं। आप उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के साहित्य-भूषण एवं भारत-भारती, मध्यप्रदेश के भवभूति-अलंकरण, बिड़ला पुरस्कार और ज्ञानपीठ-मूर्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित हैं। – सं.)

इस भारतीय नवोत्थान के जिन रूपों को अब तक देखा गया, वे हैं – ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज तथा थियॉसाफिकल संस्थान।

ब्रह्मसमाज ईसाइयों के दुष्प्रचार से अपने हिन्दुत्व पर शर्मिन्दा था और तदर्थ अपने आगार ग्रंथों – वेद, उपनिषद् – के आधार पर उसका बुद्धिसंगत पक्ष ही समर्पित कर रहा था। प्रार्थनासमाज भी इसी का बढ़ाव था। फलत: सुधार का वही स्वर यहाँ भी था। इन लोगों को तो पुनर्जन्मवाद और वेदों की स्वत:प्रमाणता पर भी आश्वस्तता नहीं थी।

आर्यसमाज कुछ आगे बढ़ा और उसने केवल वेद के 'मंत्र-भाग' को स्वत:प्रमाण तथा सर्वविध ज्ञान का आगार मानकर पुर्नजन्मवाद में भी आस्था व्यक्त की। ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज में भावात्मक आस्था और उपासना का पक्ष था, परन्तु आर्यसमाज शुष्क तार्किक था और इस तार्किकता का आधार अवश्य वेद (मंत्र-भाग) था। स्वामी दयानन्द वेद को ज्ञानमय मानते थे और सर्वविध ज्ञान का अपरिमेय स्रोत कहते थे। अत: वे उस चट्टान पर खड़े होकर अपनी तार्किक क्षमता से हिन्दू धर्म के स्वरूप की एक सीमा बाँध रहे थे। वेदेतर समाज भारतीय संस्कृत वाङ्मय, धर्म, कर्म, साधना, उपासना सब कुछ उनके लिए प्रगति में – सामजिक प्रगति में अवरोधक था। थियॉसाफिस्ट भारत और हिन्दू धर्म को और भी वृहद् भूमि पर प्रतिष्ठित कर रहे थे, पर इन सबका जनता पर वह प्रभाव नहीं था, जो बुद्धिजीवियों की मण्डली में था। आर्यसमाज अवश्य अपने प्रचार-प्रसार से पश्चिमोत्तर प्रान्त में कुछ फैले हुए थे और जनता भी उनसे जुड़ी थी।

हिन्दुत्व के लिये वेद अथवा वैदिक वाङ्मय की ही सीमा भारतीय जनता को रास नहीं आई। उनका 'मानस' कुछ और संस्कारों से भरा था, जिसे अनुरूप बल परमहंस श्रीरामकृष्ण और उनके पट्टशिष्य विवेकानन्द से मिला। परमहंस श्रीरामकृष्ण ने इन सबकी सीमाओं की ओर संकेत किया है। उन्हें ब्रह्म-समाजियों की सामूहिक उपासना में औपचारिकता और खोखलापन ही दिखा था और स्वामी दयानन्द में अपनी बौद्धिक प्रखरता का अहं-भाव। भारतीय मानस आध्यात्मिक प्रकृति का है। अत: वह कोरी बौद्धिकता और तार्किकता से नहीं जुड़ सकता। इसके विपरीत वह सात्त्विक आचार, त्याग, चरित्र और आध्यात्मिक शक्ति के साथ बराबर जुड़ा रहता आया है और अब भी वे ही शक्तियाँ उसे आकृष्ट कर सकती हैं। एक ओर हिन्दू, ईसाई और मुस्लिम एक दूसरे की आलोचना कर रहे थे, दूसरी ओर ये आन्दोलन बौद्धिक स्तर पर सर्वत्र सामंजस्य बनाए रखने का प्रयत्न कर रहे थे। आवश्यकता थी हृदय, अनुभूति और दर्शन के स्तर पर यह जान लेने की कि उक्त तीनों प्रस्थानों से एक ही गन्तव्य तक जाया जा सकता है। इसके लिए गहरी साधना चाहिये थी। यह अपेक्षा पूरी की – परमहंस श्रीरामकृष्ण ने। परमहंसजी ने इन आन्दोलनों और इनके नेताओं का खोखलापन देख लिया था। सन्त तोतापुरी ने इन्हें हिन्दू धर्म के सर्वस्व – 'अद्वैत' का, भैरवी ने तांत्रिक 'शक्ति' का, गुरु गोविन्दराय ने इस्लामी तौहीद का और शम्भुचरण मल्लिक ने ईसाईयत का साक्षात्कार करा दिया था। और-और साधनाएँ भी कर ली थीं। उनमें न रक्षा की चिन्ता थी और न आक्रमण का जोश। भारत इसी अपरोक्षानुभूति और चरित्र में बसा है। यहाँ समन्वय ही समन्वय है। 'मायावाद' से हटकर परमहंसजी स्पष्टत: 'शक्तिवाद' पर आ चुके थे। 'स्थिति' को ब्रह्म और 'गति' को स्पष्टत: 'शक्ति' मानते थे। अत: वहाँ शक्ति की परिणति होने से जगत् सत्य मान लिया गया। परमहंस श्रीरामकृष्ण की साधना की फलश्रुति थे स्वामी विवेकानन्द।

स्वामी विवेकानन्द १२ जनवरी, १८६३ ई. को कलकत्ते के एक कायस्थ परिवार में पैदा हुए थे। इनका नाम था नरेन्द्रनाथ दत्त। आरम्भ में पश्चिम की ओर से आनेवाली नई रोशनी के ये प्रतिभा-पुरुष थे। ईश्वरीय सत्ता और धर्म की ओर शंका से देखते थे। तथापि इनमें सृष्टि का रहस्य जानने की बेचैनी बराबर बनी रही। फलत: वे आरम्भ में ब्रह्मसमाज की ओर झुके, परन्तु वहाँ उन्हें अनुकूलता प्रतीत नहीं हुई। फिर वे दक्षिणेश्वर में उन रामकृष्ण की ओर मुड़े, जिनकी प्रख्याति एक आध्यात्मिक ज्योति के रूप में हो चुकी थी। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव को नरेन्द्र में लोकोत्तर सम्भावनाओं तथा दिव्य चेतना होने का प्रत्यय हुआ। फलत: उन्होंने उनमें अपनी आध्यात्मिक शक्ति का संचार कर उनका व्यक्तित्वान्तरण कर दिया। पश्चिम की 'बुद्धि' को पूर्व के अगाध 'हृदय' का अहसास होने लगा। नरेन्द्र समर्पित होकर विवेकानन्द हो

गए। श्रीरामकृष्ण की अनुभूति को अभिव्यक्त होने की बौद्धिक प्रणाली मिल गयी – अर्थात् एक अनुभूति था, तो दूसरा उसकी व्याख्या बन गया। वे चाहते थे कि पश्चिम के शरीर में भारत की आत्मा का प्रकाश हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त उन्होंने शिकागो की यात्रा की – पूरे यूरोप का भ्रमण किया और समझा दिया कि तत्त्वत: 'धर्म' और 'अध्यात्म' क्या हैं? इसके स्पष्टीकरण के लिये उन्होंने भी वेदान्त (उपनिषद्) का ही सहारा लिया और उसकी ऐसी युगोचित व्याख्या की, जिसे 'नव्य-वेदान्त' की अभिधा मिली। यही नवोत्थान युग का वह दर्शन था, जिसमें एक ओर भारत अपनी स्वस्थ और सात्त्विक समग्रता में विद्यमान था और दूसरी ओर उसमें मध्यकाल की उपर्युक्त पाँचों रूढ़ियों के अवरोधक ढूहों को ढहा देने की वैचारिक शक्ति थी।

नव्य वेदान्त : स्वामी विवेकानन्द ने जब परमहंसजी से निर्विकल्प समाधि में स्थित होने की इच्छा व्यक्त की तब परमहंसजी ने उन्हें डाँटते हुए कहा था कि वे व्यक्तिगत मुक्ति क्यों चाहते हैं? वे जिस कार्य के लिये धरती पर आए हैं, उसे पूरा कर लें। वे राष्ट्रीय समाज के शरीर में प्राण फूँकें और विश्व स्तर पर धर्म तथा अध्यात्म की अवधारणा प्रतिस्थापित करें, ताकि राष्ट्र के साथ विश्व के समुन्नयन का मार्ग भी प्रशस्त हो। एतदर्थ वैचारिक क्रान्ति अपेक्षित थी।

वे उपनिषदों का महा-तात्पर्य 'अद्वैत-तत्त्व' में ही मानते हैं – वही पूर्ववर्ती समस्त भारतीय दर्शन को आत्मसात् करता हुआ सामंजस्य में पर्यवसित होता है। परमहंस श्रीरामकृष्ण इस नवोत्थान के पूर्व चर्चित आन्दोलनों – ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज तथा बहुत दूर तक थियॉसाफिकल सोसायटी – को बुद्धिवादी नवोत्थान समझते थे, जिनमें ईसाई और इस्लाम द्वारा किये गए हिन्दू विरोधी प्रचारों की प्रतिक्रिया कहीं ज्यादा थी। इसलिए उनके द्वारा उपस्थापित मूर्तिपूजा-खण्डन, पौराणिक संस्कृति-विरोध[१], सतीप्रथा-निषेध, बालविवाह-निषेध, विधवा-विवाह तथा ऐसे और भी पक्षों का इनकी दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं था। कारण, इनमें गहरे स्तर पर कुछ अच्छाइयाँ भी थीं। केवल बौद्धिक चिन्तन से क्या सत्य तथा ग्राह्य है और क्या असत्य तथा अग्राह्य, आत्यन्तिक रूप से कहना कठिन है। एतदर्थ साधना के द्वारा हृदय के स्तर पर साक्षात्कार आवश्यक है। केवल इसी मार्ग से चलने पर जो सिद्धान्त या मान्यताएँ बनती हैं। वे ही उपादेय हो सकती हैं। इस मार्ग में आरूढ़ परमहंस श्रीरामकृष्ण ने अपनी सारी 'अनुभूति' प्रखर बौद्धिक नरेन्द्र में उड़ेल दी थी और उन्हें राष्ट्र तथा विश्व के उन्नयन के लिये एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति के लिए प्रेरित किया था, जिससे न केवल रूढ़ि-जर्जर, दारिद्र्य-ग्रस्त, स्वस्थ, सोचविहीन अपना राष्ट्र प्रगति-पथ पर गतिशील हो, अपितु समूचा विश्व उससे आलोकित हो। अभिप्राय यह कि ये परमहंसदेव और विवेकानन्द थे, जिन्होंने नवोत्थान को स्वस्थ, वैचारिक और व्यावहारिक दृष्टि दी। यह भारतीय या हिन्दू नवोत्थान था।

स्वामी विवेकानन्द उपनिषद्-सम्मत् अद्वैतवाद के ऐसे सक्षम व्याख्याकार थे, जिनमें परमहंस की आध्यात्मिक अनुभूति पूर्णत: संक्रान्त थी। यह इनकी-उनकी प्रतिक्रिया में उठ खड़े आन्दोलन की अपेक्षा, एक युगोचित औपनिषद् प्रस्थान कहीं अधिक था, जहाँ सब प्रकार के हानिकर भेदों का वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर विरोध था। उनका पक्ष है कि एक वस्तु से दूसरी वस्तु का भेद केवल परिमाणगत है न कि प्रकारगत, क्योंकि वास्तव में सभी वस्तुएँ वही एक अखण्ड वस्तु मात्र है। सब वही एक है, जो अपने को विचार, जीवन, आत्मा या देह के रूप में अभिव्यक्त करता है। वेदान्त का मूल सिद्धान्त यह एकत्व अथवा अखण्ड-भाव ही है, द्वित्व कहीं नहीं है। वह अखण्ड-तत्त्व समुद्र है – सृष्टि-तरंग है। तरंग का समुद्र से भेद केवल नाम और रूप के स्तर पर है, (मूल-रूप) जल के स्तर पर नहीं। ये 'नाम-रूप' या 'देश-काल-निमित्त' ही 'माया' के नाम से जाने जाते हैं, जिनकी भी सत्ता परमार्थत: नहीं है। वेदान्त जगत् को उड़ा नहीं देता, केवल उसकी व्याख्या करता है। वह यह नहीं कहता कि जगत् वृथा है। पर वह क्या है? – यह समझने की बात है। समझ लेने पर वह रूपान्तरित हो जाता है, भेदबुद्धि नि:शेष हो जाती है। तरंग और समुद्र तत्त्वत: कहाँ भिन्न हैं – 'देश-काल-निमित्तवश' वह तरंगें बनकर नाम-रूप जैसी उपाधि ओढ़ लेता है। इस आवरण को ज्ञान – तत्त्वज्ञान से हटा देने पर भेद – जो आपातत: अज्ञान-वश प्रतीत होता था, चला जाता है। जब 'रज्जु-सर्प' में 'सर्पबुद्धि' है, तब रज्जुबोध नहीं है और जब आँख गड़ाकर देखते हैं, तब सर्प-बोध हवा हो जाता है। जो बचा रहता है, वह रज्जु-बोध है। विवेकानन्द मानते हैं कि सृष्टि Creation नहीं है। असत्-सत् की उत्पत्ति है – Creation Non-being से होता है, जबकि सृष्टि सत् का प्रक्षेप है। प्रक्षेप – जो भीतर है उसका बाहर जाना – **अन्तःस्थितस्यैव बहिः प्रकाशः सृष्टिः ।**

डार्विन का क्रम-विकासवाद कार्य-कारणवाद मानता है। उसे मानें, तो कहना होगा कि 'स्थूल क्रमविकास' तथा 'सूक्ष्म क्रमविकास' परस्पर कार्य-कारण भावापन्न हैं। होता वही है जो पहले से होता है। यह मानना कि 'बुद्धि' मानव स्तर की चेतना में अकारण या 'न कुछ' से आ गई – सर्वथा असंगत है। वह कहीं सूक्ष्म रूप में थी, धीरे-धीरे इस स्तर तक विकसित हुई है। यदि ऐसा नहीं माना गया तो विज्ञान-सम्मत कार्य-कारण भाववाद ही विनष्ट हो जायेगा। इस सृष्टि में न कुछ घटता है

१. स्वामीजी मानते थे कि पुराण उदात्त भावों को जनता तक पहुँचाने के निमित्त हिन्दू धर्म का प्रयास है।

और न कुछ बढ़ता है। केवल देश-काल-निमित्तवश रूपान्तरित होता रहता है। सृष्टि में जो कार्य-रूप से स्थूल लक्षित होता है, प्रलय में वही सूक्ष्म स्तर पर मूल 'प्रकृति' (माया या कारण शरीर) में प्रतीत होता है। ऐसा कोई धर्म नहीं है, जहाँ प्रलय की चर्चा न हो। यही प्रलय सूक्ष्म दशा है – सूक्ष्म क्रम में है – सृष्टि स्थूल क्रम-विकास है। पातंजल दर्शन जात्यन्तर परिणाम के रूप में क्रम-विकास की बात करता है। वे मानते हैं कि स्वयं जगत् ही निरपेक्ष, अपरिवर्तनशील, पारमार्थिक, सत्ता है और व्यावहारिक सत्ता केवल 'प्रकृति' की ओर देखे हुए विविध नाम-रूप दे देती है। 'गति' व्यावहारिक सत्ता है। सम्पूर्ण जगत् की समष्टि एक इकाई के रूप में गतिशील नहीं हो सकती – यह किसकी अपेक्षा में, किसके साथ गतिशील होगी? निरपेक्ष रूप से न उसकी गति होगी और न ही परिवर्तन। इस प्रकार स्थूल क्रम-विकास सूक्ष्म रूप से जिसमें पूर्वत: विद्यमान है, वही 'प्रकृति' है – वही पारमार्थिक अपरिवर्तनशील सत्ता की अपेक्षा से 'गति' है। उसे न परमार्थत: सत् ही कहा जा सकता है और न आत्यन्तिक रूप से 'असत्' कह सकते हैं। यह 'प्रकृति' अनिर्वचनीय है।[२]

इस्लाम कहता है कि अल्लाह के सिवाय कोई ईश्वर नहीं है, पर वेदान्त कहता है कि ऐसा कुछ है ही नहीं, जो ईश्वर न हो। यही है सर्वाधिक व्यावहारिक उपासना। उन्होंने कहा – "जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य की देह रूपी मन्दिर में उपविष्ट ईश्वर की उपलब्धि कर सकूँगा, जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख भक्ति-भाव से खड़ा हो सकूँगा और वास्तव में उनमें ईश्वर देख सकूँगा, जिस क्षण मेरे अन्दर यह भाव आ जायेगा – उसी क्षण मैं सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा।" आगे वे फिर कहते हैं – धर्म-विशेष कहते हैं कि जो व्यक्ति अपने से बाहर सगुण ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक है, परन्तु उनका वेदान्त कहता है कि जो व्यक्ति अपने आप पर (ईश्वर होने का) विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। स्वामीजी कहते हैं, "यदि तुम एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हो तो तुमको पशुओं से लेकर उच्चतम प्राणी तक में समत्व मानना पड़ेगा। जो ईश्वर अपनी मनुष्य सन्तान के प्रति पक्षपाती है और पशु नामक अपनी सन्तान के प्रति निर्दयी, वह तो फिर दानवों से भी अधम है। इस प्रकार के ईश्वर की उपासना करने की अपेक्षा मुझे सैकड़ों बार मरना भी पसन्द है। मेरा सारा जीवन ऐसे ईश्वर के विरुद्ध युद्ध में ही बीतेगा। आत्मविश्वास और परस्पर विश्वास तभी होगा जब हम ईश्वर की सत्ता सर्वत्र मानेंगे। नूतन धर्म कहता है – नास्तिक वह है जो आत्म-विश्वास नहीं रखता। जो स्वयं को अनीश्वर मानेगा, उसमें असामर्थ्य के कारण आत्म-विश्वास आएगा कहाँ से? धर्म सदैव एक व्यावहारिक विज्ञान रहा है। शास्त्र पर निर्भर रहनेवालों का न कोई धर्म रहा है और न रहेगा। पहले साधना और फिर ज्ञान। यही प्रज्ञान धर्म-अधर्म का निर्णय करता है। महाभारतकार ठीक ही कहते हैं –

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलन्तु बहुश्रुतः।
शास्त्रार्थं न विजानाति दर्वी पाकरसं यथा।।

साधना-प्रसूत प्रज्ञान जहाँ नहीं है, वहाँ शास्त्र-अनुशीलन वैसे ही बेकार है, जैसे दाल में पड़ी करछुल के लिए दाल का स्वाद बेकार है। एक समय तो ऐसा भी आ गया जब उन्हें समाज की दरिद्रता और अधोगति की चिन्ता ने धर्म और अध्यात्म के शंखनाद को अनुर्वर घोषित कर दिया। जो व्यक्ति प्राणिमात्र में ईश्वर का दर्शन कर रहा है, वह शूद्र और नारी में कैसे नहीं करेगा? और करेगा तो उसे भी चाहेगा।

स्वामीजी कहते हैं कि व्यावहारिक वेदान्त या नव-वेदान्त यह है कि एक ही समर्थ चेतना का सर्वत्र अवस्थान देखकर सबके साथ आत्मोपम व्यवहार किया जाय। यह वेदान्त ही है जो इस प्रकार की नैतिकता को स्वभावगत बताता है। यह वेदान्त के अद्वय भाव का ही तकाजा है कि वह विरोध में अविरोध स्थापित करने और देखने को प्रेरित करता है। मार्ग सबका अपना-अपना हो, पर गन्तव्य 'अभिव्यक्त तत्व' ही हो – **अविभक्तं विभक्तेषु यः पश्यति स पश्यति** अर्थात् उसी का देखना सार्थक है, जो विभक्त में अविभक्त को देखता हो। परमहंसजी स्पष्टत: 'शक्तिवादी' थे – अत: स्वामीजी का भी यही पक्ष होना चाहिए। संक्षेप में, उनके व्याख्यानों के साक्ष्य पर उनका व्यावहारिक या नव-वेदान्त यही है।

एक आशंका यह पैदा होती है कि ऊपर वेदान्त के जिस रूप का उल्लेख है, वह स्पष्ट ही 'मायावादी' है। सारी सृष्टि का बीज प्रकृति या माया में निहित रहता है और प्रलयोपरान्त 'सृष्टि' के रूप में प्रक्षिप्त होता है। यह परिणामवाद भी अन्तत: विवर्तवाद में पर्यवसित होता है। वस्तुमात्र की प्रतीति 'देश-काल-निमित्त' के साथ ही होती है। 'नाम-रूप' जैसी उपाधि से मण्डित होती है। अन्तत: रज्जु-स्थानीय

२. ब्रह्म सत्य है संसार मिथ्या – ग्रन्थावली, खण्ड-८, पृष्ठ–११३

अधिष्ठान सत्ता का साक्षात्कार होने पर प्रकृति भी हवा हो जाती है। इस तरह पारमार्थिक सत्ता अद्वय तत्त्व ही है।

स्वामीजी की ही पंक्तियों में कहीं-कहीं ऐसी बातें मिलती हैं, जिनसे 'शक्तिवाद' का आभास मिलता है। एक जगह कहा गया है – शुद्ध अनेकता को सत्य और एकता को मिथ्या कहते हैं। अन्यत्र कहा गया, परिवर्तमान चित्त-प्रवाह या सृष्टि-प्रवाह सत्य है – किसी अतिरिक्त एक कूटस्थ नित्य की सत्ता नहीं है। शंकराचार्य कहते हैं कि एक कूटस्थ साक्षी चेतन ही सत्य है – अतिरिक्त चक्षुगोचर और मनोगोचर नानात्व असत् है। स्वामीजी का तीसरा पक्ष है और वह यह कि एक ही अनेक है। (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. १२७)। स्वामीजी से किसी ने पूछा – "क्या बुद्ध ने उपदेश दिया था कि नानात्व सत्य है और अहम् असत्य है, जबकि सनातनी हिन्दू धर्म एक ही सत्य और अनेक या नानात्व को असत्य मानता है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया – "हाँ, और रामकृष्ण परमहंस और मैंने इसमें जो कुछ जोड़ा है, वह है – अनेक और एक, एक ही तत्व है जिसका मन विभिन्न समयों पर विभिन्न वृत्तियों के साथ साक्षात् करता है।" इस वक्तव्य से 'मायावाद' की नहीं, 'शक्तिवाद' की पुष्टि होती है। अन्यत्र भी स्वामीजी कहते हैं – 'जड़ और चेतन यद्यपि भिन्न मालूम पड़ते हैं – तथापि वे एक ही तत्त्व के दो रूप हैं – जड़ में आत्मतत्त्व की मात्रा कम है' (वही, पृ. २७४)। जड़ चेतन की प्रसुप्त अवस्था है, न कि उससे सर्वथा भिन्न। स्वामीजी के ये वक्तव्य उन्हें 'शक्तिवाद' के पास ले जाते हैं। मायावाद में 'दृश्य' ही दोषग्रस्त है, जबकि शक्तिवाद में दोष 'दृष्टिगत' है – सत्य दृश्य को अन्यथा प्रतीत कराता है। ट्रेन पर चलनेवाले की दृष्टि में न ट्रेन गलत है और न ही सामने की वृक्षावली – जो चलता है उसका स्थिर प्रतीत होना और जो नहीं चलता वह चलता हुआ प्रतीत होना। यहाँ 'दृश्य' सत्य है पर उसकी प्रतीति दृष्टिगत दोष से असत्य है।

इन पंक्तियों के साक्ष्य पर क्या माना जाय? आचार्य शंकर स्वयं अपने भाष्य में 'मायावादी' हैं, पर प्रकरण ग्रन्थों में 'शक्तिवादी'। 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' हो या 'सौन्दर्य-लहरी' या उपास्य की विद्या। क्या विवेकानन्द के विषय में भी यही माना जाय कि वे व्याख्याओं के विश्व-मंच पर ज्ञानमार्गी मायावादी हैं और भीतर से उपासना के धरातल पर 'शक्तिवादी'। ध्यान से देखा जाय, तो नए परिवेश में जैसा बदलाव वे लाना चाहते हैं, वह 'शक्तिवादी' दर्शन से ज्यादा संगत ठहरता है। 'शक्तिवाद' में सारा संसार चिदाह्लादमयी 'शक्ति' का व्यक्त रूप है – फलत: सत्य होने से सर्वथा सेव्य है – नारी और शूद्र भी समकक्ष सम्मान्य हैं। इससे निवृत्त या विरागी होने की जगह प्रवृत्त और रागी होना ही उचित है।

स्वामीजी की दृष्टि में जब चरम सत्ता प्रेममयी प्रतीत होती है, तभी व्यष्टि-मुक्ति-कामिता की जगह समष्टि-मुक्ति-कामिता संगत ठहरती है। नारी शक्ति-बाधक होने की जगह मुक्ति-साधक है। वे भाष्यकार शंकराचार्य से इस व्याख्या पर असहमत भी हैं कि श्रुति-पंक्तियों की स्व-मतवादी व्याख्या की जाय, उन्हें तोड़-मरोड़कर अद्वयपरक ही बताया जाय। औपनिषद पंक्तियाँ जैसे द्वैत, मायावादी अद्वैत और विशिष्टाद्वैत-परक हैं – उसी तरह 'शक्तिवाद'-परक भी हैं। स्वामीजी ने स्वयं एक पंक्ति उद्धृत की है और उसकी व्याख्या भी इसी दिशा के अनुरूप की है। पंक्ति है – **आनीदवातम्** (नासदीय सूक्त)। इस वाक्य से तत्त्व का जो वर्णन किया गया है – उसमें कहा जा रहा है – 'वह गतिहीन भाव से स्पन्दित हुआ था – अर्थात् स्पन्दातीत से स्पन्दात्मक दशा में आया था अथवा 'ऋग्वेद' की एक पंक्ति है – **यदिदं किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्** (१०-१२९-२) – अर्थात् 'इस संसार में जो कुछ है, प्राण के कम्पित होने से नि:सृत होता है।' स्पष्ट ही 'एजति' का अर्थ है – काँपना, स्पन्दित होना और 'नि:सृतम्' का अर्थ है – प्रक्षिप्त होना। आकाश में ही सारे भूत लीन हैं, वही आदिभूत हैं। यह आकाश प्राण की शक्ति से स्पन्दित होता है और ज्यों-ज्यों यह स्पन्दन द्रुततर होता है, त्यों-त्यों आकाश की तरंगें क्षुब्ध होती हुई चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि के आकार धारण करती जाती हैं। शक्तिवादी ग्रन्थ 'तंत्रालोक' में कहा है – **संवित् प्राक् प्राणे परिणता** – 'स्पन्दातीत संवित् का सर्वप्रथम परिणाम है' – प्राण, जो आदि भूत आकाश में स्पन्दित करता है – फिर सृष्टि प्रक्षिप्त होने लगती है। वैसे ही ईशावस्य उपनिषद् का एक वाक्य है – **तदेजति तन्नैजति** – 'एक मूल तत्त्व पहले अनेजन स्थिति में, अ-गति या स्पन्दातीत स्थिति में है, यहाँ फिर स्पन्दात्मक होती है। इन सारी पंक्तियों से 'शक्तिवाद' का समर्थन होता है। स्वमतवादिता 'शक्ति'-परक व्याख्या में ही है।

मायावादी दृष्टि से सृष्टि के उद्भव को समझाने में स्वयं स्वामीजी को बड़ी कठिनाई का अनुभव हुआ है। फलत: 'माया' को अनादि कहकर छुट्टी पा ली है। जहाँ तक मेरा मत है स्वामीजी ने स्वयं परमहंसदेव तथा अपना मत स्पष्ट करते हुए साफ कह दिया है कि उन्होंने बौद्ध और सनातनी आचार्य शंकर के परस्पर-विरोधी मतों में समन्वय करके अपना पक्ष रखा है। भेद अर्थात् 'एक' ही अपनी शक्ति (स्वभाव) से अनेक हो पाता है, भेद केवल संकुचित जीव की संकुचित दृष्टि में है – संकुचित और उससे प्रक्षिप्त जगत् में सर्वथा एकात्म्य है। जगत् सत्य है।

स्वामीजी का झुकाव चाहे 'मायावाद' की ओर रहा हो या 'शक्तिवाद' पर – उन्होंने अपने व्याख्यानों द्वारा यह तय कर दिया कि ये सिद्धान्त केवल प्रखर बुद्धि के धुरे की वस्तु नहीं है – अपितु सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति इस विचारधारा को

अपने दैनन्दिन जीवन में उतार सकता है – फलत: व्यक्तिगत, परिवारगत, समाजगत और राष्ट्रगत और यहाँ तक कि विश्व-गत जीवन स्तर का समुन्नयन कर सकता है, उसके अद्वयी स्वभाव से नैतिकता स्वयं फूटती है, उन्नयन का मार्ग-निर्देश उसी की अन्तश्चेतना से निकलता है। रूढ़ियाँ स्वयं चरमाराने लगती हैं। प्रगति का रास्ता अवरोधरहित होता जाता है।

निष्कर्ष – 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' और 'विवेकानन्द-साहित्य' को पूरा पढ़ लेने पर लगता है कि जहाँ विवेकानन्द प्रखर मायावादी वेदान्ती हैं, वहीं परमहंसदेव ने साधनामय जीवन में अनुभव किया है कि कहीं तत्त्वत: विरोध है ही नहीं। उन्होंने विश्व की सभी साधनाएँ की हैं और तदनुरूप विचारधाराओं से भी उन्हें गुजरने का अवसर मिला है। हाँ, यह अवश्य है कि उसका अपना एक नितान्त, सहज और बोधगम्य स्तर है। 'विवेकानन्द साहित्य' में विवेकानन्द का मायावादी प्रखर स्वर है। वे बार-बार कहते हैं कि 'देश-काल-निमित्त' या 'माया' के शीशे से हम ब्रह्म (सत्य) को देखते हैं, तब वह नाम-रूप-मय अनेकता में प्रतिभासित होता हैं। शीशे से न देखें तो पारमार्थिक 'अद्वैत सत्य' का ही अनुभव होता है – फलत: वेदान्त का यह सत्य प्रतिष्ठित लगता है – **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या नेह नानास्ति किंचन**।

परमहंसदेव इस 'मायावाद' को दार्शनिकों की भाँति सर्वथा खण्डित नहीं करते। वे अपने अनुभव के साक्ष्य पर कहते हैं कि ज्ञानी के लिए 'मायावाद' ठीक है, पर भक्त के लिए है 'शक्तिवाद'। ज्ञानी जगत् को भ्रम कह सकता है – भक्त कथमपि नहीं कह सकता। भक्त मानता है कि ब्रह्म और उसकी स्वरूपभूता शक्ति में वैसी ही एकता है, जैसी आग और उसकी दाहिका शक्ति में। जगत् उसी शक्ति की अभिव्यक्ति है। अपनी बात को समंजस बताते हुए वे कहते हैं – बेल का सार कहो तो गूदा ही समझा जाता है, तब बीज और खोपड़ा निकाल देने पड़ते हैं, परन्तु बेल वजन में कितना है – इसके कहने की आवश्यकता हुई तो केवल गूदा तौलने से काम नहीं चलेगा। तौलते समय गूदा, बीज, खोपड़ा – सब कुछ लेना चाहिए। जिसका गूदा है, उसी के बीज भी हैं और खोपड़ा भी। जिनकी सत्यता है, लीला भी उन्हीं की है। इसीलिए परमहंस देव नित्यता और लीला सब मानते हैं। संसार को माया कहकर वे उसके अस्तित्व को नकारते नहीं, – क्योंकि यदि वैसा किया जाय तो वजन पूरा नहीं पड़ेगा। वे ब्रह्म और माया, जीव-जगत् सब लेते हैं – यदि कुछ कम लें, तो उन्हें पूरा वजन नहीं मिलेगा। भक्त ब्रह्म को जीव-जगत्-विशिष्ट कहेगा – और ज्ञानी निर्विशेष कहेगा। भक्त वजन की बात करता है और ज्ञानी सार की। ❑❑❑

✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪

विवेकानन्द-अष्टकम्

रवीन्द्रनाथ गुरु

संसारे सफला ह्यासीन्नरेन्द्रस्य नरेन्द्रता ।
सच्चिदानन्द नामाऽपि तनोति तस्य श्रेष्ठताम् ।।१।।

– जगत् में स्वामीजी की नरेन्द्रता से उनका 'नरेन्द्र' नाम सार्थक हुआ। 'सच्चिदानन्द' नाम भी उनकी महत्ता का प्रतिपादक है।

विवेकानन्द संन्यासी विवेकानन्दवर्द्धनो ।
रामकृष्ण-पदाम्भोज-रस-लीनो यशोधनः ।।२।।

– संन्यासी 'विवेकानन्द' सबमें विवेक का आनन्द बढ़ानेवाले थे और दिगन्तव्यापी कीर्ति के बावजूद सर्वदा अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के चरण-कमलों के रस में निमग्न रहा करते थे।

भारतस्य हि यो धर्मः सत्याश्रितः सनातनः ।
तस्योद्गाता महान् धीमान् तस्य गौरववर्द्धकः ।।३।।

– भारतवर्ष का धर्म सनातन और सत्य पर आश्रित है। मेधावी स्वामीजी उसके प्रवक्ता उसका गौरव बढ़ानेवाले थे।

सत्यस्योपासकं वन्दे वेदज्ञं ब्रह्मचारिणम् ।
तदीयाऽऽदर्शसंदीप्त नरोऽस्तु नीतिरक्षकः ।।४।।

– सत्य-उपासक वेदार्थविद् ब्रह्मचारी-वरिष्ठ स्वामीजी की मैं वन्दना करता हूँ। उनके आदर्श से प्रेरित लोग नीतिरक्षक हों।

यत्र त्यागस्तथा सेवा तत्रेशोऽभीष्टदायकः ।
त्यागसेवा-मनोभावस्तस्य कल्याण-कारकः ।।५।।

– जहाँ त्याग होता है, वहीं सच्ची सेवा भी होती है और वहीं समस्त कामनाओं की पूर्ति करनेवाले ईश्वर भी विराजते हैं। स्वामीजी का त्याग और सेवा का भाव कल्याणकारी है।

तस्य शिक्षा हि सर्वेषां सद्गति-जननी ध्रुवा ।
तद्विना नैव सत्सौख्यं साम्यं वा सुदशाऽथवा ।।६।।

– उनकी शिक्षा का पालन ही सभी लोगों की निश्चित रूप से सद्गति-प्रदात्री है, इनके बिना सच्चा सुख, समता या उच्च अवस्था सम्भव नहीं है।

सुनीतिः सर्वथा काम्या विवेकानन्दमर्च्चय ।
तदनुसरणं श्रेयः सुधियामेष निर्णयः ।।७।।

– ज्ञानीजनों का ऐसा मत है कि नैतिकता का पालन करने की इच्छा रखते हुए स्वामीजी की अर्चना करो। उनके जीवन तथा उपदेशों के अनुसरण से परम कल्याण की प्राप्ति होती है।

प्रबुद्धानन्दस्त्रष्टा यो रामकृष्णाङ्घ्रि-पङ्कजे ।
मानसमधुपो येषां संलग्नः स प्रसीदतु ।।८।।

– जिनका मन-मधुप श्रीरामकृष्ण-पद-कमलों में ही लगा रहता था, ऐसे ज्ञानानन्द के स्रष्टा स्वामीजी मुझ पर प्रसन्न हों।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(३३) भक्त हृदय भगवान बसे

भगवान महावीर धर्म-प्रचार करते हुए एक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक भक्त ने उनके पास आकर उनके चरणों में माथा टेका, तो उन्होंने भी झुककर उसे प्रणाम किया। यह देख वह लज्जित होकर बोला, "भगवन्, आप महात्मा हैं, गृहस्थाश्रम और सांसारिक माया-मोह को त्यागकर बिना किसी लालसा के, स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं, जबकि मैं एक तुच्छ संसारी गृहस्थ हूँ। मुझ तुच्छ को प्रणाम करके आप मुझे लज्जित क्यों कर रहे हैं?"

भगवान महावीर बोले, "मुझमें जिस पवित्र आत्मा का निवास मानकर तुमने श्रद्धावनत हो अभिवादन किया, उसी पवित्र आत्मा का वास मैंने तुम्हारे अन्दर बोध किया। मैं तो अपनी आत्मा की सन्तुष्टि के लिए इधर-उधर भटक रहा हूँ और कहीं भी सुख का अनुभव नहीं कर पा रहा हूँ, और दूसरी ओर तुम अपने परिवार और सगे-सम्बधियों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए एवं समाज की सेवा में रत होकर भी दूसरों के प्रति श्रद्धा व्यक्त कर रहे हो। इस कारण मेरी दृष्टि में तुम आदर के पात्र हो।"

(३४) दुर्जन के बस न होइये

मंत्रदीक्षा लेने के बाद ईसा-मसीह स्वयं को परमेश्वर के नियंत्रण में होने का बोध करने लगे। वे साधना में डूब जाने के लिये एक निर्जन स्थान में गये। इतने में शैतान वहाँ आ पहुँचा और उन्हें गलत कामों के लिए उकसाने लगा, किन्तु उन्होंने उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। चालीस दिनों तक शैतान उन्हें भ्रमित करने के प्रयास में लगा रहा, पर वे टस-से-मस नहीं हुए। उन्हें भूख सताने लगी, किन्तु वे विचलित न हुए। शैतान ने कहा – "यदि तुम सचमुच परमेश्वर के पुत्र हो, तो इन पत्थरों को रोटी में बदल जाने का आदेश देकर अपनी भूख मिटा सकते हो।" ईसा ने उत्तर दिया – "धर्म-शास्त्र कहता है कि एकमात्र रोटी ही मनुष्य के जीने का साधन नहीं है।" शैतान उन्हें एक पहाड़ी पर ले गया और उन्हें बहुत सारे देश दिखाकर कहा – "यदि मेरे सामने घुटने टेककर याचना करो, तो मैं तुम्हें इन सब देशों का मालिक बनाऊँगा। इससे तुम्हें धन-दौलत की कमी नहीं रहेगी।" ईसा बोले – "धर्मशास्त्र कहता है कि प्रभु के सिवा किसी के समक्ष नहीं झुकना चाहिए।" शैतान ने फिर कहा – "यदि तुम परमेश्वर के सच्चे पुत्र हो, तो स्वयं को नीचे गिरा दो। ऐसा करने पर तुम्हारे धर्मशास्त्र के अनुसार स्वर्ग के दूत तुम्हें ऊपर ही उठा लेंगे और तुम्हें जरा भी चोट नहीं पहुँचेगी।" तब यीशु बोले – "पर धर्मशास्त्र यह भी तो कहता है कि यह जानने के लिए परमेश्वर की परीक्षा नहीं लेनी चाहिए कि क्या वह हमारी इच्छानुसार काम करता है?" जब शैतान ने देखा कि ईसा पर उसके उकसावे का कोई असर नहीं हो रहा है, तो वह चुपचाप वहाँ से खिसक पड़ा।

(३५) प्रेम ते प्रगट होहि भगवाना

सिरड़ी के साईं बाबा ने एक बार दासगणु महाराज से उनका कीर्तन सुनने की इच्छा व्यक्त की। दासगणु एक सन्त की इच्छा को कैसे टाल सकते थे? उन्होंने कहा, "आपकी इच्छा मुझे शिरोधार्य है। मैं एक सप्ताह तक कीर्तन करूँगा, मगर मेरी भी एक इच्छा है जिसे मुझे पूरा विश्वास है कि आप अवश्य पूरी करेंगे।" सन्त ने पूछा, "बताइये, आपकी ऐसी कौन-सी इच्छा है, जिसे मैं पूरी कर सकता हूँ।" दासगणु ने कहा, "मेरी इच्छा है कि एक सप्ताह के बाद भगवान विठ्ठल मुझे दर्शन दें।" साईं बाबा बोले, "यदि यह आपकी हार्दिक इच्छा है, तो भगवान विठ्ठल अवश्य प्रकट होंगे, पर भगवान के प्राकट्य के लिए भक्त के मन में तीव्र श्रद्धा विद्यमान होना आवश्यक है। भक्त के हृदय में प्रेम और भक्ति का स्रोत प्रवाहित होने पर भगवान स्वयं ही प्रकट हो जायेंगे।"

दासगणु महाराज ने सात दिनों तक कीर्तन किया और हजारों श्रद्धालुओं ने श्रवण किया। साईं बाबा भी एक श्रोता के रूप में भगवन्नाम का रस-पान करते रहे। कीर्तन-समाप्ति के बाद दासगणु स्नानादि से निवृत्त होकर ध्यान करने बैठे, तो चतुर्भुजधारी विठ्ठलदेव ने उन्हें दर्शन दिया। इष्टदेव को साक्षात् सामने देख उनकी आँखों से प्रेमाश्रु बह निकले।

मध्याह्न के समय जब वे साईं बाबा के दर्शनार्थ मस्जिद गये, तो बाबा ने उनसे पूछा, "विठ्ठल भगवान आये थे न?" उनके हामी भरने पर बाबा ने कहा, "मगर आपने उन्हें जाने कैसे दिया। अब यदि उनके दर्शन हों, तो उन्हें दृढ़ता से पकड़ कर रखना। उन्हें बाहर न जाने देना।"

जब दासगणु वापस जाने के लिए बाहर आये, तो उन्हें मस्जिद के सामने ही एक व्यक्ति चित्र बेचता हुआ दिखाई दिया। उन्हें यह देख आश्चर्य हुआ कि वे चित्र भगवान विठ्ठल के थे और चित्र में वे ठीक उसी रूप में थे, जिसमें उन्होंने ध्यान के समय उन्हें दर्शन दिये थे। उन्हें साईं बाबा के कथन का स्मरण हो आया। उन्होंने एक चित्र खरीद लिया और उसे अपने देवगृह में उसे प्रतिष्ठित कर दिया। ❑❑❑

खेतड़ी में तीन माह

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

वाकयात रजिस्टर का विवरण

स्वामीजी के खेतड़ी-निवास के दौरान लिखे गये दरबार के रोजनामचे या वाकयात रजिस्टर में कहीं-कहीं स्वामीजी के नाम का उल्लेख मिलता है। ऐसे प्रसंग इस प्रकार हैं –

९ अगस्त, १८९१, रविवार, खेतड़ी

७ बजे उठे। हाथ-मुँह धोये। सलाम के लिये आनेवालों की सलाम हुई। आबू में जिस शेर का शिकार किया था, उसकी खाल पेश की गई। मामूली-सा स्नान करके भोजन हुआ। मुसाहब (दरबारी) लोग आ गये और अपनी बातें कहकर वे लोग ११ बजे चले गये।

स्वामी विवेकानन्द जी आबू से साथ आये थे। वे आये। अंग्रेजी में बातचीत होती रही। २ बजे स्वामीजी चले गये। और आपने आराम फरमाया। ३ बजे उठे। हजामत बनवाई। हाथ-मुँह धोकर **छतरी** में आ विराजे। वर्षा आ गई। बाद में वर्षा रुक जाने पर बग्घी में सवार होकर **अजीत-निवास** पधारे। लॉन-टेनिस का खेल हुआ। सूर्यास्त हो जाने पर बैठकर ... स्वामी विवेकानन्द जी से बातें हुईं। ७ बजे वापस लौटकर **दीवानखाने की छत पर** विराजे।

१३ अगस्त, १८९१, गुरुवार, खेतड़ी

७.४५ बजे सलाम करनेवालों ने सलाम किया। स्वामी विवेकानन्द जी आये। उनसे बातें हुईं। माइक्रॉस्कोप (सूक्ष्मदर्शी यंत्र) इंग्लैंड से मरम्मत होकर आया था। उसकी जाँच-पड़ताल करते रहे।

१५ अगस्त, १८९१, शनिवार, खेतड़ी

माइक्रॉस्कोप देखते रहे। ९ बजे स्वामी विवेकानन्द जी आ गये। पुस्तकों पर चर्चा तथा हारमोनियम पर संगीत हुआ। ११ बजे भोजन आ गया। स्वामीजी को भी पास में ही जिमाया गया।

(वाकयात रजिस्टर की अब तक की प्रविष्टियों से ज्ञात होता है कि माउंट आबू से आने के बाद से अब तक राजा साहब और स्वामीजी का दीवानखाने तथा उससे लगे महल में ही निवास हो रहा था, पर आगे की प्रविष्टियों से पता चलता है कि १५ अगस्त के बाद किसी दिन राजा साहब पन्ना तालाब के एक ओर पर स्थित रघुनाथजी के मन्दिर से जुड़े महल में जाकर निवास करने लगे थे और स्वामीजी को भी कहीं पास ही ठहराने की व्यवस्था की थी।

१९ अगस्त, १८९१, बुधवार, खेतड़ी (मन्दिर)

... बाद में श्रीहुजूर **मन्दिर के महल में** पधारकर गलीचे पर विराजे। स्वामी विवेकानन्द, पण्डित लक्ष्मीनारायणजी और पण्डित नारायणदासजी से शास्त्र के बारे में बातें होती रहीं।

२० अगस्त, १८९१, गुरुवार, खेतड़ी (तालाब)

७ बजे पधारकर **बुर्ज में** विराजे। डाक के पत्र देखे। चुरुट पीया। हाथ-मुँह धोकर **मन्दिर के महल** में पधारे। सलामी करनेवालों की सलाम हुई। माइक्रॉस्कोप देखते रहे। स्वामी विवेकानन्द जी से बातें होती रहीं। मुंशी जमीर अली जी आये। एक किताब देखते रहे। थोड़ी देर बाद वे चले गये। १० बजे पण्डित गोपीनाथ जी आये। ४ मिनट ठहरकर चले गये। शाह अर्जुनदास जी शोभालाल जी आये। सलाम करके चले गये। (महाराजा) ने स्नान और थोड़ा-सा अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म समाप्त किया। ठाकुर रामबक्स जी आये और अपनी बातें अर्ज करके चले गये। भोजन हुआ। पलंग पर लेट गये और स्वामी विवेकानन्द जी से शास्त्र के बारे में बातें करते रहे।

२२ अगस्त, १८९१, शनिवार, खेतड़ी (तालाब)

गंगासहाय जी ने हाजिर होकर एक घण्टे तक हाथ-खर्च का ब्यौरा पेश किया। स्वामी विवेकानन्द जी आ गये। उनसे शास्त्र के बारे में बातें होती रहीं और किताब पढ़ते रहे।

२४ अगस्त, १८९१, सोमवार, खेतड़ी (तालाब)

वहाँ से आकर **बाग में स्वामी विवेकानन्द जी के डेरे में** पधारकर उनसे बातें कीं। ८ बजे (रात को) **वापस**

तालाब पर लौटकर भीतर पधारे।

२५ अगस्त, १८९१, मंगलवार, खेतड़ी (तालाब)

स्वामी विवेकानन्द जी आये। उनके साथ बातें करते हुए माइक्रॉस्कोप देखते रहे।

२६ अगस्त, १८९१, बुधवार, खेतड़ी (तालाब)

२ बजे स्वामी विवेकानन्द जी आये। उनके साथ बातें हुईं। ५.३० बजे अजीत निवास पधारे।

३० अगस्त, १८९१, रविवार, खेतड़ी (तालाब)

वीणा बजाया। स्वामी विवेकानन्द जी आये। उनसे बातें होती रहीं। किताब पढ़ी।

३१ अगस्त, १८९१, सोमवार, खेतड़ी (तालाब)

स्वामी विवेकानन्द जी आये। उनसे बातें होती रहीं और किताब पढ़ते रहे।

१ सितम्बर, १८९१, मंगलवार, खेतड़ी (तालाब)

विवेकानन्द जी आ गये। उनसे बातें करते रहे और किताब पढ़ते रहे।

१३ सितम्बर, १८९१, रविवार, खेतड़ी (तालाब)

ऊपर की छत्री में विराजे। स्वामी विवेकानन्द जी, पंजाबी सांई और जगमोहन लाल जी की आपस में चर्चा होती रही। उसे सुनते रहे। ९ बजे भीतर पधार गये।

१६ सितम्बर, १८९१, बुधवार, खेतड़ी (तालाब)

१२ बजे स्वामी विवेकानन्द जी आ गये। उनके साथ बातें होती रहीं।

२० सितम्बर, १८९१, रविवार, खेतड़ी (तालाब)

१२ बजे मुसाहब लोग चले गये। किताब पढ़ते रहे। स्वामी विवेकानन्द जी आ गये, सो बीच बीच में उनसे भी बातें होती रहीं।

२२ सितम्बर, १८९१, मंगलवार, खेतड़ी (तालाब)

२ बजे श्राद्ध सम्पन्न हो जाने के बाद भोजन हुआ। उसके बाद किताब ही पढ़ते रहे। स्वामी विवेकानन्द जी आ गये, सो उनके साथ बातें होती रहीं।

२३ सितम्बर, १८९१, बुधवार, खेतड़ी (तालाब)

स्वामी विवेकानन्द जी आ गये। उनके साथ बातचीत हुई और किताब देखते रहे।

२७ सितम्बर, १८९१, रविवार, खेतड़ी (अजीत सागर बाँध)

२.३० बजे स्वामी विवेकानन्द जी आये। उनके साथ बातें होती रहीं।

* मन्दिर के महल का फोटो

२९ सितम्बर, १८९१, मंगलवार, खेतड़ी (तालाब)

श्राद्ध होने के बाद ११ बजे भोजन हुआ। पलंग पर लेट गये। पुस्तक पढ़ते रहे और स्वामीजी से बातें करते रहे।

३० सितम्बर, १८९१, बुधवार, खेतड़ी (तालाब)

११ बजे बाहर पधारकर मन्दिर के महल में पलंग पर लेट गये। पुस्तक देखते रहे और स्वामीजी से बातें होती रहीं।

१ अक्तूबर, १८९१, गुरुवार, खेतड़ी (तालाब)

अजीत निवास पधारे। लॉन टेनिस का खेल हुआ। संध्या को अग्निहोत्र करके तालाब पर वापस लौटे। ऊपर की छतरी में विराजे। स्वामीजी से बातें होती रहीं।

४ अक्तूबर, १८९१, रविवार, खेतड़ी (तालाब)

भोर में ४ बजे बाहर पधारे। हाथ-मुँह धोकर ४.३० बजे घोड़े पर सवार होकर जीण माता* के दर्शन के लिए रवाना हुए। लगभग ८.३० बजे गुढ़े पहुँचे। वहाँ डूंगर (पहाड़ी) में शिवजी के मकान में एक गोस्वामी तपस्या कर रहे थे। उनकी प्रशंसा सुन रखी थी, अत: उनका दर्शन करने गये। घोड़े पर सवार होकर धर्मशाले में गये और वहाँ डेरा लगाया। वहाँ कुर्सी पर विराजे। स्वामी विवेकानन्द जी के साथ आपकी बातें होती रहीं। ६ बजे के बाद आठ मील दूर **सिगनौर** में प्रवेश किया।

(नोट – ५ अक्तूबर को सिगनौर से रवाना होकर **बाजोर** होते हुए **सीकर** पहुँचे। ६ अक्तूबर को सीकर के रावराजा माधोसिंह के साथ ६ बजे जीणमाता के स्थान पर पहुँचकर उनके दर्शन किये और ९.१३ बजे सवारी पुन: सीकरगढ़ में वापस पहुँची। १० अक्तूबर को सीकर से रवाना होकर ११ अक्तूबर को वापस खेतड़ी पहुँचे।

१२ अक्तूबर, १८९१, सोमवार (दशहरा), खेतड़ी

(नोट – दशहरे के उपलक्ष्य में पूजा, सवारी तथा दरबार के विस्तृत विवरण के बाद भोज में शामिल होनेवालों की तालिका दी हुई है, जिसमें स्वामीजी का नाम भी है।)

* जीण माता का स्थान, रींगस से सीकर जानेवाली सड़क पर सीकर से १० कि.मी. पूर्व बाँयें हाथ मुड़ने पर रानोली (गौरियाँ) गाँव से ५ कि.मी. दूरी पर स्थित है। 'जीण' शब्द 'जयन्ती' का अपभ्रंश है। देवी चौहान राजपूतों की कुलदेवी हैं, मूर्ति अष्टभुजी है। मन्दिर का सभा-मण्डप १०वीं शताब्दी के पूर्व का है। मण्डप के स्तम्भों पर लेख खुदे हुए हैं। शिलालेख भी मिले हैं, जिनमें वि.सं. १०२९ तथा ११६२ के लेख सर्वाधिक प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण हैं। प्रतिवर्ष दोनों नवरात्रों के समय यहाँ मेले लगते हैं। यात्रियों के लिये धर्मशालाएँ हैं। देवालय की छतों तथा दीवारों पर बौद्ध तथा तांत्रिक मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। राजा अजीतसिंह नवरात्रि के अवसर पर स्वामीजी को साथ लेकर देवी का दर्शन करने गये थे। (स्वामी पूज्यानन्द जी के सौजन्य से प्राप्त)

जीण माता – चित्र

२१ अक्तूबर, १८९१, बुधवार, खेतड़ी

राजमाता साहब उदावत जी का श्राद्ध था। जोरजी को उसे सम्पन्न करने का आदेश दिया गया। वे १ बजे तक श्राद्ध करा चुके, तब भोजन आया। मुसरफ खाँ आये। उनकी वीणा बजती रही। ४ बजे हाथ-मुँह धोकर नीचे पधारे। आँवले के पेड़ के नीचे के चबूतरे पर विराजे। नटों का खेल हुआ, उसे देखा। ६ बजे उसके समाप्त होने के बाद हकीमजी के बाग तक टहलने गये। वापस लौटकर **स्वामी विवेकानन्द जी के डेरे में** पधारकर विराजे। बातचीत करते रहे। १०.३० बजे वहाँ से उठकर भीतर पधार गये।

२२ अक्तूबर, १८९१, गुरुवार, खेतड़ी

८ बजे बाहर पधारे। हाथ-मुँह धोया। सलाम करनेवालों ने आकर सलाम किया। स्नान करके भोजन किया। छबि-निवास में विराजकर वीणा बजाई। पुस्तक पढ़ी। ४ बजे हाथ-मुँह धोकर नीचे उतरे। घोड़ी पर सवार होकर रपटनेवाले रास्ते से बाँध पर पहुँचे। बाँध के इस छोर से नाव में सवार होकर बाँध में सैर करते हुए दूसरी ओर पहुँचे। ८ बजे नाव से उतरकर बँगले में पधारे। बँगले की छत पर (साधु) सीमलनाथ जी से घण्टे भर बातें की। इसके बाद स्वामी विवेकानन्द जी से बातें होती रहीं।

२३ अक्तूबर, १८९१, शुक्रवार, खेतड़ी (बाँध)

पुस्तक पढ़ी। ३ बजे स्वामीजी तथा अन्य लोगों के साथ बातें होती रहीं।

२४ अक्तूबर, १८९१, शनिवार, खेतड़ी

९.२५ बजे खेतड़ी पहुँचे। ४ बजे हाथ-मुँह धोकर अजीत-निवास में पधारे। ७ बजे वापस लौटे। बरामदे में विराजे। ठाकुर रामबक्स जी तथा पण्डित गोपीनाथ जी से एकान्त में बातें की। बाद में शोभालाल जी, जगमोहन जी तथा स्वामीजी से बातें होती रहीं। १० बजे भीतर चले गये।

२६ अक्तूबर, १८९१, सोमवार, खेतड़ी

१० बजे भोजन किया। पुस्तक पढ़ते रहे। २ बजे स्वामी विवेकानन्द जी आ गये। उनसे बातें होती रहीं।

२७ अक्तूबर, १८९१, मंगलवार, खेतड़ी (तालाब)

१० बजे स्नान तथा नित्यकर्म के बाद छवि निवास में विराजे। पुस्तक पढ़ते रहे। ११ बजे भोजन किया। जगमोहन जी ने आकर कागजात दिखाए। १२ बजे मुसाहब लोग हाजिर हुए। रियासती काम के बारे में चर्चा होती रही। २ बजे वे लोग चले गये। स्वामी विवेकानन्द जी आ गये, सो उनके साथ बातें होती रहीं।

खेतड़ी में वे कहाँ रहे?

खेतड़ी में स्वामीजी कुल तीन बार पधारे थे। पहली बार वे वहाँ १८९१ ई. के अगस्त से अक्तूबर तक रहे, दूसरी बार १८९३ ई. में पुत्रोत्सव हेतु पधारे तथा २१ मई से १० अप्रैल तक वहाँ निवास किया; और तीसरी बार १८९७ ई. में '१२ से २१ दिसम्बर तक निवास किया।

पहली बार – स्वामीजी जब पहली बार खेतड़ी आये, तो उनके लगभग (९ अगस्त से २९ अक्तूबर १८९१) के दौरान लगभग (अगस्त २३ + सितम्बर ३० + अक्तूबर २९ =) कुल ८२ दिन निवास किया, परन्तु वाकयात रजिस्टर में उनकी कुल २९ प्रविष्टियाँ ही मिलती हैं। जिस-जिस दिन वे राजा से मिले, उसी दिन उनका नाम रजिस्टर में लिखा है। बाकी दिन वे सम्भव है, अन्यत्र गये हों या फिर अपने आवास में ही बिताया हो और फिर वे पं. नारायणदासजी के पास जाकर व्याकरण भी पढ़ा करते थे और कभी-कभी खेतड़ी के आम जनता से भी मिलने जाते थे।

वाकयात रजिस्टर में लिपिबद्ध कुल २९ प्रविष्टियों में से ८ खेतड़ी की हैं, १८ तालाब के हैं, १ मन्दिर का और २ अजित-सागर बाँध के हैं। इनमें से ९ अगस्त से १५ अगस्त तक दीवानखाने की छत, सुखमहल तथा वहाँ की छतरी आदि का उल्लेख है। लगता है कि माउंट आबू से आने के बाद महाराजा लगभग एक सप्ताह दीवानखाने के संलग्न महल में ठहरे और स्वामीजी सम्भव है कुछ दिन वहीं उन्हीं के पास दीवानखाने में कहीं या उसके पास ही स्थित बावड़ी-मन्दिर में ठहरे हों। (क्योंकि बाद में अखण्डानन्द जी ने भी कुछ काल दीवानखाने में और कुछ समय बावड़ी-मन्दिर में निवास किया था।)

वाक्यात रजिस्टर के अनुसार, महाराजा १९ अगस्त से १ अक्तूबर के दौरान, करीब डेढ़ माह पन्ना तालाब के समीप स्थित अपने कुल देवता रघुनाथजी के मन्दिर से संलग्न महल में रहे, इस दौरान ३ बार अजीत-निवास (क्लब) जाने का उल्लेख है। इस प्रकार बरसात के लगभग डेढ़ माह महाराजा ने पन्ना तालाब के पास के मन्दिर-महल में बिताये थे।

उस दिनों स्वामीजी कहाँ ठहरे थे – इस बात का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। महाराजा चूँकि इतनी दूर से स्वामीजी को सत्संग हेतु ही खेतड़ी लाये थे और उनसे दीक्षा आदि भी लेने का प्रसंग आता है, अत: स्पष्ट है कि उन्हें निकट ही कहीं ठहराया होगा। वाकयात रजिस्टर की २४ अगस्त की प्रविष्टि के अनुसार – "(महाराजा ने) बाग में स्वामी विवेकानन्द जी के डेरे में पधारकर उनसे बातें कीं। (रात) ८ बजे वापस तालाब पर लौटकर भीतर पधारे।"

यह पूछे जाने पर कि 'स्वामीजी अपने खेतड़ी-प्रवास के

* तालाब के पास के छोटे कमरे का चित्र

दौरान कहाँ ठहरे थे?' राजदरबार के साथ कई पीढ़ियों से जुड़े खेतड़ी के वयो-वृद्ध नागरिक श्री मोतीलाल माथुर ने (मार्च, २००४ में) वर्तमान लेखक को बताया था कि पन्ना तालाब पर ही मक्खन दास बाबाजी के आश्रम के सामने एक छोटा-सा कमरा है, उसी में। (ज्ञातव्य है कि उक्त आश्रम काफी काल बाद अस्तित्व में आया)। लेखक ने वहाँ जाकर देखा कि तालाब के एक किनारे की चहारदीवारी से घिरा एक छोटा-सा सुन्दर कमरा है। पड़ोस के निवासी श्री अब्दुल हादी खान ने बताया कि बचपन में उन्होंने देखा है कि पूरी चहारदीवारी फूलों के बाग से भरी थी (शायद रघुनाथजी के मन्दिर में फूल वहीं से जाते होंगे), बाद में क्रमश: वह उद्यान उजड़ गया और अब वहाँ खाली जमीन पड़ी है।

(दीवार के चिह्न से पता चलता है कि) चारों ओर सुन्दर परिवेश के बीच स्थित इस कमरे का एक द्वार विशाल तथा भव्य तालाब की ओर खुलता था (जो अब सील कर दिया गया है) और पुष्पोद्यान के भीतर दो खिड़कियाँ खुलती थी (जिनमें से एक को निकाल कर अब दरवाजा लगा दिया गया है)। वहाँ से सामने पहाड़ तथा उसमें जल लानेवाले नहरों की सुन्दर दृश्यावली दीख पड़ती है। उन दिनों यह स्थान काफी हरा-भरा, निर्जन तथा सुरम्य रहा होगा। सम्भव है कि तालाब का परिदर्शन करते समय स्वामीजी ने स्वयं ही अपने निवास के लिए यह कमरा चुन लिया रहा हो। एकान्तवास तथा चिन्तन-मनन की दृष्टि से स्वामीजी के निवास के लिए यह स्थान अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

बाद में नवरात्रि के समय जीण माता का दर्शन कर लौटने के बाद सम्भवत: महाराजा दीवानखाने से संलग्न महल में आ गये थे और आसपास ही कहीं (शायद बावड़ी-मन्दिर में) स्वामीजी के रहने की व्यवस्था की होगी। २१ अक्तूबर के वाकयात रजिस्टर में लिखा है – "स्वामी विवेकानन्द जी के डेरे में पधारकर विराजे। बातचीत करते रहे। १०.३० बजे वहाँ से उठकर भीतर पधार गये।"

वाकयात रजिस्टर में उल्लिखित दीवानखाना, फतेह-विलास, छबि-निवास तथा जनानी ड्योढ़ी को मिलाकर वर्तमान आश्रम है। कहते हैं कि सुखमहल के पास, जयनिवास के सामने पूर्व की ओर एक मकान था, जिसमें अखण्डानन्द जी रहते थे। एक मील दूर उद्यान-भवन (क्लब हाउस) (कोलियानी नगर) है, अब कापर प्राजेक्ट की सम्पत्ति है। और अजीत-सागर बाँध खेतड़ी से लगभग आठ मील दूर है।

दूसरी बार – आसमान महल का उल्लेख आता है। क्या छबि निवास ही आसमान महल है? २२ अप्रैल, १८९३ (शनिवार) की प्रविष्टि में लिखा है – "१० बजे श्री हुजूर **आसमानी महल** में स्वामीजी के पास पधारे। १२ बजे भोजन किया। स्वामीजी से बातें होती रहीं।" आगे-पीछे की कुछ प्रविष्टियों को देखने से प्रतीत होता है कि यह दीवानखाने के पास ही कहीं रहा होगा। सम्भव है कि यह किसी अतिथिशाला का नाम हो। या फिर सम्भव है कि यह पहाड़ी पर स्थित भूपालगढ़ किले में बने महल का नाम रहा हो। ज्ञातव्य है कि उस समय पुत्रोत्सव चल रहा था और बहुत-से राजा-महाराजा तथा इतर मेहमान आये हुए थे।

ऐसा भी कहते हैं कि वे कभी भूपालगढ़ में ठहरे थे, या फिर बीच बीच में चले जाते होंगे।

तीसरी बार जब वे १८९७ ई. में आये थे, तो उनके कई गुरुभाई तथा शिष्य भी उनके साथ आये थे। उस बार उन्हें सुखमहल में ठहराया गया था। ज्ञातव्य है कि उस समय तक सुखमहल का केवल पहला मंजिल ही अस्तित्व में था। ऊपरी मंजिल काफी बाद में, १९२३ के बाद मि. कैरोल द्वारा बनवाया गया और वे स्वयं उसी में रहते थे।

तालाब और उस कमरे का चित्र

मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (९)
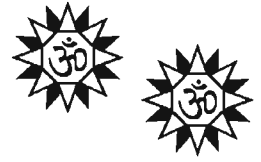
भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

शिष्यों का प्रशिक्षण

स्वामीजी अपने शिष्यों को जो प्रशिक्षण देते थे, वह हर एक के लिये भिन्न तथा विशिष्ट हुआ करता था। जब तक कोई निश्चित रूप से शिष्यत्व-ग्रहण की इच्छा प्रकट नहीं करता और जब तक उन्हें विश्वास नहीं हो जाता कि दीक्षार्थी इस कदम के लिये तैयार है, तब तक वे अपने पास रहनेवालों के व्यक्तिगत जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं करते थे। कुछ लोगों को वे पूर्ण स्वाधीनता दे देते और वे उसी स्वाधीनता में आबद्ध हो जाते। हम से अपरिचित कुछ लोगों के बारे में वे यह बता देते – "वह शिष्य नहीं, वह मित्र है।" वह एक बिल्कुल भिन्न प्रकार का सम्बन्ध होता। मित्रों के जीवन में स्पष्ट भूलें तथा पूर्वाग्रह रह सकता था। मित्रगण संकीर्ण मनोवृत्ति रख सकते थे, परम्परागामी रह सकते थे, परन्तु वे उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करते थे। ऐसा लगता था कि दूसरों के जीवन को स्पर्श करनेवाला कोई मत व्यक्त करना भी वे दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप-रूपी अक्षम्य अपराध समझते थे।

परन्तु एक बार उन्हें गुरु स्वीकार कर लेने के बाद सब कुछ बदल जाता था। तब वे अपनी जिम्मेदारी महसूस करते थे। तब वे जान-बूझकर उसकी दुर्बलताओं, पूर्वाग्रहों तथा मापदण्डों पर और यहाँ तक कि व्यक्तित्व का निर्माण करनेवाली हर असंगति पर प्रहार करते। यदि आप अपने अपरिपक्व उत्साह में संसार को सुन्दर देखते; और भले की सत्यता तथा बुराई की असत्यता में विश्वास करते, तो आपकी इन सारी मधुर भ्रान्तियों को दूर करने में उन्हें ज्यादा समय नहीं लगता। वे समझा देते – यदि अच्छाई सत्य है तो बुराई भी सत्य है। दोनों एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। अच्छाई और बुराई – दोनों माया के अन्तर्गत आते हैं। शुतुरमुर्ग के समान बालू में अपना सिर छिपाकर यह न कहो – "सब कुछ अच्छा है, कहीं कोई बुराई नहीं है।" जैसे मधुर की पूजा करते हो, वैसे ही भयंकर की भी पूजा करो। और उसके बाद दोनों के परे चले जाओ। कहो – "एकमात्र ईश्वर ही सत्य हैं।" जब हम पर संकट आ पड़े, तब भी क्या हममें ऐसा कहने का साहस है? क्या अब भी असंख्य लोग आपदा के शिकार नहीं हैं? क्या संसार दु:खों से परिपूर्ण नहीं है? क्या लाखों लोगों का जीवन त्रासदी द्वारा आच्छन्न नहीं है? क्या पृथ्वी पर रोगों, वार्धक्य और मृत्यु का साम्राज्य नहीं व्याप्त है? इन वास्तविकताओं के बावजूद यदि कोई हल्केपन से कहता है कि 'संसार सुन्दर है' तो, या तो वह मूढ़ है, और नहीं तो वह दूसरों की पीड़ाओं के प्रति पूर्णत: उदासीन – स्वार्थ-केन्द्रित है।
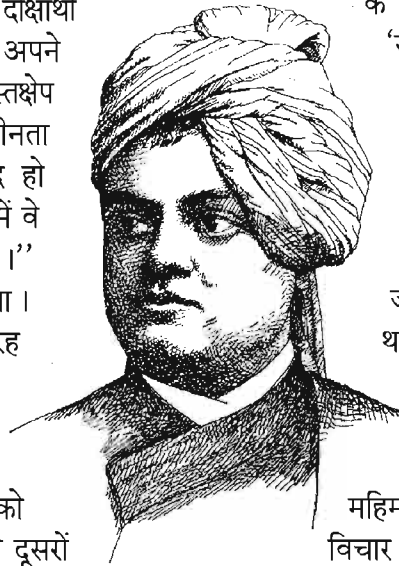
उनका यह उपदेश बड़ा कटु था। परन्तु शीघ्र ही हमें उसके परे विद्यमान – एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की झलकियाँ मिल जातीं। जन्म तथा मृत्यु के परे अमृतत्व विद्यमान था; सुख तथा दुख के परे वह परम आनन्द था, जो व्यक्ति का सच्चा स्वरूप है। जीवन की अनिश्चितता के पीछे एक अपरिवर्तनीय तत्त्व है। मनुष्य की आत्मा अपनी स्वयं की महिमा प्रतिष्ठित रहती है। ज्यों-ज्यों ये महान् विचार हमारी चेतना में ओतप्रोत हो गये, त्यों-त्यों हम "एक नया स्वर्ग और एक नई पृथ्वी देखने लगे", "जिसके लिये आत्मा ही सब कुछ हो चुकी है, उस एकत्व को देख रहे व्यक्ति को भला क्या दुख और क्या पीड़ा हो सकती है?" "भले बनो, सच्चे बनो, एकाग्र बनो" – एक बार भी यह सब कहे बिना ही उन्होंने हमारे मनों में इन गुणों की प्राप्ति के लिये परम तीव्र कामना उत्पन्न कर दी। कैसे किया उन्होंने यह सब? क्या उनकी अपनी निश्छलता, उनकी अपनी सत्य - परायणता और उनकी अपनी सरलता के प्रभाव से ही ऐसा सम्भव हो सका था?

"यह संसार एक कीचड़ का गड्ढा है" – स्वामीजी की यह उक्ति सुनकर हम लोगों को झटका-सा लगा और विरोध, शंका तथा हल्की-सी नाराजगी के स्वर भी उठे थे। वर्षों बाद एक स्मरणीय रविवार की सुबह, कोलकाता के उपनगरीय दमदम मार्ग से जाते हुए मैंने कुछ भैंसों को एक तालाब के कीचड़ में आनन्दपूर्वक लोटते हुए देखा था। उसे देखते ही मेरा मन तत्काल वितृष्णा के भाव से परिपूर्ण हो उठा। मेरे मन में आया कि भैंसों को भी आनन्द मनाने के लिये कीचड़ की अपेक्षा थोड़ी

अच्छी चीज ढूँढ़नी चाहिये । परन्तु उन्हें उसी में शारीरिक सुख का बोध हो रहा था । तभी सहसा स्मरण हो आया – "यह संसार एक कीचड़ का गड्ढा है ।" अमृतत्व के उत्तराधिकारी और उच्चतर जीवनोद्देश्य रखनेवाले हम लोगों की भी हालत इन भैंसों से बेहतर नहीं हैं । हम भी इस संसार-रूपी कीचड़ के गड्ढे में लोटते हैं और हमें भी इसी में आनन्द आता है ।

हमारी समस्याओं का वे स्वयं समाधान नहीं करते थे । वे आदर्श को हमारे समक्ष रख देते थे, परन्तु उसका उपयोग हमें स्वयं ही करना पड़ता था । वे स्वयं पर किसी भी तरह की ढुलमुल निर्भरता या सहानुभूति की अपेक्षा को प्रोत्साहित नहीं करते थे । वे गरज उठते – "अपने स्वयं के पाँवों पर खड़े होओ । तुम्हारे भीतर ही अनन्त शक्ति निहित है ।" उनका एकमात्र उद्देश्य हमारे लिये मार्ग को सहज बनाना नहीं, अपितु हमें स्वयं में निहित शक्ति को विकसित करना सिखाना था । वे कहते – "शक्ति ! शक्ति ! मैं शक्ति के अलावा अन्य किसी तत्त्व का प्रचार नहीं करता । और इसीलिये मैं उपनिषदों का ही प्रचार करता हूँ ।"

पुरुषों से वे पौरुष और नारियों से भी उसी के समतुल्य भाव की अपेक्षा रखते थे, जिसके लिये कोई शब्द नहीं है । वह भाव आत्मग्लानि के विपरीत और दुर्बलता तथा भोगासक्ति का शत्रु था । यह दृष्टिकोण एक टॉनिक-सा प्रभाव डालता था । काफी काल से सुप्त पड़ी कोई क्षमता जगा दी जाती और उसके साथ ही शक्ति तथा स्वाधीनता आ जाती थी ।

प्रत्येक शिष्य के साथ उनकी पद्धति भिन्न हुआ करती थी । कुछ के ऊपर वे निरन्तर प्रहार करते रहते । उनके लिये आहार-विहार और यहाँ तक कि पोशाक तथा बातचीत के मामले में भी कठोरतम संयम का विधान किया जाता । परन्तु अन्य लोगों के लिये उनके द्वारा निर्धारित पद्धति को समझना इतना सहज नहीं था, क्योंकि वे उन्हें तपस्या के भाव में प्रोत्साहन नहीं देते थे । ऐसा कहीं इस कारण तो नहीं था कि इन मामलों में आध्यात्मिकता के अहंकार पर विजय पानी थी और अच्छाई भी एक बन्धन का रूप ले चुकी थी? किसी के लिये यह पद्धति उपहास की होती – सस्नेह उपहास की और किसी अन्य के लिये यह कठोरता का रूप धारण कर लेती । जिन लोगों ने इसके अनुसार स्वयं को ढाल लिया, हमने उनका रूपान्तरण होते देखा ।

हमें भी छोड़ा नहीं गया । हमारे लिये स्वाभाविक हो चुके दोष उनके मधुर मुस्कानों से ही लुप्त हो गये । हमारे परम्परा -गत विचारों को शिक्षा की प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ा । हमें सिखाया जाता कि कैसे हम हर विषय पर सर्वांगीण रूप से विचार करें और निर्भयता के साथ सत्य को पकड़कर मिथ्या को त्याग दें, चाहे इसके लिये जो भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े । इस प्रक्रिया से बहुत-सी ऐसी चीजें छूट गयीं, जो पहले उपयोगी और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती थीं । सम्भवत: अब तक हमारे उद्देश्य तथा लक्ष्य सीमित तथा बिखरे हुए थे । क्रमश: हम उन्हें उच्चतर तथा पवित्रतर क्षेत्रों की ओर उन्नीत करना और समस्त छोटे लक्ष्यों को उस एक महान् लक्ष्य में पुंजीभूत करना सीख गये, जो हमारे जीवन का वास्तविक लक्ष्य है और जिसकी प्राप्ति के लिये हम बारम्बार इस पृथ्वी पर आते हैं । हमने इसे मरुस्थलों या पर्वत-शिखरों पर नहीं, अपितु अपने हृदयों में ढूँढ़ना सीखा । इन समस्त उपायों से हमारी प्रगति की प्रक्रिया में तेजी आयी और हमारे पूरे स्वभाव का रूपान्तरण हो गया ।

इसलिये ऐसी असाधारण शक्ति के प्रारम्भिक प्रभाव के समक्ष हमारे संकुचित हो जाने में आश्चर्य की क्या बात? और ऐसा केवल हमें ही लगा हो, ऐसी बात नहीं है । कुछ काल बाद एक मेधावी अमेरिकी महिला अमेरिका में आये विभिन्न संन्यासियों के बारे में बोलती हुई कहने लगीं – "मैं स्वामी विवेकानन्द से अधिक स्वामी ... को पसन्द करती हूँ ।" इस वक्तव्य से हमारे चेहरों पर जो आश्चर्य का भाव उभरा, उस पर उन्होंने कहा – "हाँ, मैं जानती हूँ कि स्वामी विवेकानन्द अनन्त-गुना महान् हैं, परन्तु वे इतने शक्तिशाली हैं कि वे मुझे अभिभूत कर देते हैं ।" बाद में एक नये सम्प्रदाय के एक सुप्रसिद्ध प्रचारक के मुख से मुझे लगभग ये ही शब्द सुनने को मिले थे । उनके उपदेशों पर वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव देखकर मैंने उनसे पूछा था कि क्या वे कभी स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित हुए हैं । वे बोले – "हाँ, मैं उन्हें जानता हूँ और उनके व्याख्यान भी सुन चुका हूँ, परन्तु उनकी शक्ति ने मुझे अभिभूत कर दिया ।" इसके बाद अमेरिका में कुछ समय बितानेवाले एक उत्तर-भारतीय प्रचारक का नाम लेते हुए उन्होंने कहा – "बल्कि मुझे स्वामी ... के प्रति अधिक आकर्षण का बोध हुआ था ।"

इसकी क्या व्याख्या हो सकती है? इसका कारण क्या यह है कि हम अस्थायी रूप से किसी के व्यक्तित्व के कुछ विशेष गुणों के प्रति आकृष्ट होते हैं और कुछ अन्य के प्रति वितृष्णा का बोध करते हैं? यह सत्य हो, तो इसके लिये भी तो व्याख्या की जरूरत होगी । तो क्या इसका कारण यह भय है कि इससे हमारा सीमित व्यक्तित्व अभिभूत हो जायेगा और कुछ भी बचेगा नहीं । बाइबिल में है – "वस्तुत: जो अपने जीवन को खोयेगा, वही इसे पायेगा ।" तो भी ऐसे लोगों की संख्या नगण्य थी, जो इस महान् शक्ति के भँवर में पड़ने से डरते थे; परन्तु बाकी हजारों लोग, जैसे लौहकण चुम्बक की ओर आकृष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन अदम्य शक्ति की ओर खिंचे चले आते थे । उनकी आकर्षण-शक्ति इतनी प्रबल थी कि पुरुष या नारी या बालक – जो भी उनके सान्निध्य में आते, उनके जादुई सम्मोहन में फँस जाते ।

सहज भाव से हमें प्रभावित करने और एक धर्माचार्य का अपने शिष्यों के प्रति जो दृष्टिकोण होना चाहिये, इस विषय में हमारी धारणा को समझने का प्रयास करने की जगह वे मानो हमारी संवेदनाओं को आहत करते और यहाँ तक कि हमें आघात भी पहुँचाते थे। अन्य लोग अपने दोषों को छिपाने का प्रयास कर सकते थे, छिप कर मांसाहार या धुम्रपान कर सकते थे और इसके साथ यह युक्ति दे सकते थे कि यह सब करने में मूलतः कुछ भी गलत नहीं है, परन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से इसके लिये एक दुर्बल भाई को अपमानित नहीं करना चाहिये। परन्तु इसके उलट, वे कहते – "यदि मैं एक भूल करता हूँ, तो मैं इसे छिपाने का प्रयास छोड़कर खुली आवाज में सबको सूचित कर दूँगा।"

यह सत्य है कि हम लोग परम्परावादी और कट्टरता की हद तक आदर्शवादी थे। तथापि किसी भी यथेच्छाचारी व्यक्ति ने भी हमें परेशानी में डाल दिया होता। उन दिनों, जब लोग महिलाओं के समक्ष धूम्रपान नहीं करते थे, वे जान-बूझकर हमारे पास आते और सिगरेट का धुँआ हमारे चेहरों पर छोड़ देते। यदि कोई और रहा होता, तो मैं पीठ फेर लेती और उससे फिर कभी बोलती तक नहीं। तो भी क्षण भर के लिये तो मैं संकुचित हो गयी। उसके बाद मैंने अपने को सँभाला और याद किया कि मैं यहाँ क्यों आयी हूँ! मैं उनके अन्दर ऐसी आध्यात्मिकता देखकर आयी थी, जिसकी मैंने कभी सपने में भी कल्पना नहीं की थी। उनके होठों से मैंने ऐसे सत्य सुने थे, जिनके बारे में कभी सोचा तक न था। वे उसकी उपलब्धि का मार्ग जानते थे। वे मुझे मार्ग दिखायेंगे। तो क्या इस जरा-से धुँए के कारण वापस लौट जाऊँगी? यह सब बताने में जितना समय लगा, सोचने में उससे कम लगा था। यह भाव एक अन्य दृष्टि से भी चला गया था, पर उस विषय में आगे कहा जायेगा।

इसके बाद हमने पाया कि जिस व्यक्ति को हमने श्रद्धास्पद के रूप में अपने अन्तर्मनों में प्रतिष्ठित किया है, वे हमारे प्रचलित रीति-नीतियों के अनुसार नहीं चलते। हम जानती थीं कि सभी सज्जन पुरुष नारीत्व का आदर करते हैं; और वे जितने ही अधिक उच्च कोटि के होते हैं, नारियों का उतना ही अधिक सम्मान करते हैं। परन्तु साधारण लोगों से जितनी अपेक्षा की जाती है, उन्होंने हमारे प्रति उतना भी सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं किया। पहाड़ी चट्टानों पर चढ़ते और उनसे उतरते समय उन्होंने कभी हमारी ओर सहायता का हाथ नहीं बढ़ाया। इस पर, जैसा कि प्रायः ही होता था, एक दिन हमारी अव्यक्त भावनाओं को भाँपकर उन्होंने कहा – "यदि तुम वृद्ध या दुर्बल या असहाय होती, तो मैंने अवश्य सहायता की होती। परन्तु तुम बिना सहायता ही इस सोते के उस पार तक कूदने या मार्ग पर चढ़ने में पूर्ण सक्षम हो। तुम उतनी ही सक्षम हो, जितना कि मैं। तो फिर क्यों मैं सहारा दूँ? इसलिये कि तुम एक महिला हो? क्या यह शौर्य है? और क्या तुम नहीं देखती कि यह शौर्य यौन-आकर्षण मात्र है? क्या तुम नहीं देखती कि पुरुषों द्वारा नारियों के सहारा देने के पीछे क्या भाव रहता है।"

भले ही ये बातें विचित्र प्रतीत हुई थीं, परन्तु इनसे हमारे मन में एक नई धारणा का जन्म हुआ कि नारित्व के प्रति सच्चा सम्मान क्या है! और इसके बावजूद हमने उन्हीं को देखा कि श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी तथा शिष्या माँ सारदा का आशीर्वाद पाने की इच्छा से जाते समय रास्ते भर अपने शरीर पर गंगाजल छिड़कते रहे, ताकि उनके पास पहुँचने के पहले पवित्र हो जायें। एकमात्र उन्हीं के समक्ष स्वामीजी ने अपना उद्देश्य प्रकट किया था और उनका आशीर्वाद प्राप्त किये बिना वे पाश्चात्य देशों की यात्रा करने को इच्छुक नहीं थे। जब कभी वे माताजी का दर्शन करने जाते, तो उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम करते। क्या उन्होंने मातृभाव से ईश्वर की उपासना नहीं की थी? क्या प्रत्येक नारी उनके लिये जगदम्बा की ही किसी-न-किसी रूप की अभिव्यक्ति नहीं थी? – यहाँ तक कि वे गणिकाएँ भी, जिन्होंने अपनी दिव्यता को धन के बदले बेच डाला था। क्या उन्होंने खेतड़ी की नर्तकी में दिव्यता नहीं देखी थी? और इसके बाद उसने स्वयं भी स्वामीजी द्वारा अनुभूत अपने सच्चे स्वरूप को जान-कर अपना व्यवसाय छोड़ दिया, पवित्रता का जीवन बिताने लगी और स्वयं भी महान् अनुभूति की अधिकारिणी बनी। यह जानकर भी कि भारत में उनकी निन्दा होगी, उन्होंने साहसपूर्वक एक महिला को संन्यास की दीक्षा दी, क्योंकि उसके भीतर उन्होंने केवल निर्लिंग आत्मा को ही देखा।

यद्यपि वे एक संन्यासी तथा भिक्षु थे, तथापि वे कभी अपना राजकीय भाव विस्मृत नहीं करते थे। वे किसी भी भूल के प्रति उदार थे, परन्तु उनकी उदारता में कभी असंयम न था। कहना न होगा कि वे जो कुछ भी करते थे, उसमें दिखावे का रंच मात्र भी नहीं रहता था। यदि वे सांसारिक दृष्टि से समृद्ध लोगों के बीच होते, तो उन्हें जो कुछ दिया जाता, उसे बिना किसी विरोध के आनन्दपूर्वक और यहाँ तक कि उत्साह या उत्सुकता के साथ स्वीकार कर लेते। परन्तु अभावग्रस्त लोगों से वे कुछ भी स्वीकार नहीं करते। अब वे परिव्राजक संन्यासी नहीं रह गये थे, परन्तु आम लोगों से इतने भिन्न थे कि प्रश्न उठता था – "क्या वे कभी महान् मुगलों में से एक रह चुके हैं?" यह विचार मूर्खतापूर्ण था! क्या वे महानतम मुगलों और सभी मुगलों के योग से भी अधिक महान् नहीं थे? क्या वे राजकीय से भी बढ़कर कुछ नहीं थे? क्या वे परम महिमामय नहीं थे?

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण मिशन, स्वामी विवेकानन्द जी का पैतृक आवास तथा सांस्कृतिक केन्द्र (कोलकाता) का वार्षिकोत्सव

विगत २६ सितम्बर को इस केन्द्र के उद्घाटन की प्रथम वर्षगाँठ मनाने को लगभग ५०० लोग एकत्र हुए । रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज के सभापतित्व में आयोजित होनेवाली इस सभा के मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री माननीय श्री बुद्धदेव भट्टाचार्य ।

सर्वप्रथम मुख्यमंत्री को गली के बच्चों के लिये संचालित हो रहे साध्य-विद्यालय में ले जाया गया और वहाँ छात्रों तथा शिक्षकों के साथ उनका परिचय कराया गया । स्वामी जितात्मानन्द जी के निर्देशन में छात्रों तथा शिक्षकों ने समवेत स्वर में 'हरि ॐ श्रीरामकृष्ण' भजन गाया । छात्रों से गुलदस्ते स्वीकार करने के बाद मुख्यमंत्री ने उन्हें नये वस्त्र प्रदान किये । इसके बाद उन्होंने स्वामीजी के जन्मस्थान में जाकर श्रद्धा ज्ञापित की । संग्रहालय तथा पूजा-दालान का अवलोकन करने के बाद मुख्यमंत्री ने 'रामकृष्ण हाल' का उद्घाटन किया ।

इस अवसर पर आयोजित सभा में स्वामी जितात्मानन्द जी के स्वागत-भाषण देते हुए कहा कि दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण ने हिन्दू, इसलाम तथा ईसाई धर्म तथा सभी मतों एवं पथों के समन्वय द्वारा पृथ्वी के इतिहास में जिस नये अध्याय का श्रीगणेश किया था, स्वामीजी ने उसी को आधुनिक युग के मूलमंत्र के रूप में स्थापित करके 'अन्तर्राष्ट्रीय संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान' का प्रचार किया था । इसके बाद स्वामी स्मरणानन्द जी का व्याख्यान हुआ । इसके उपरान्त मुख्यमंत्री विविध क्षेत्रों में रामकृष्ण मिशन के अनुपम अवदान की प्रशंसा करते हुए एक मोहक वक्तृता प्रदान की ।

मुख्यमंत्री के आगमन के पूर्व 'दिव्यायन' के छात्र तथा शिक्षक अपराह्न के ३ बजे से ही भजनों का कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहे थे । शाम को ५ बजे विख्यात बाउल गायक प्रह्लाद ब्रह्मचारी ने अपने गायन से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया ।

संध्या को ६ बजे स्वामी जितात्मानन्द ने 'सुकुमार बसु स्मृति व्याख्यान' दिया । रामकृष्ण मठ तथा मिशन के अन्यतम सह-सचिव स्वामी भजनानन्द जी ने इस सभा की अध्यक्षता की । ७ बजे विख्यात सुरबहार-वादक प्राध्यापक सन्तोष वन्द्योपाध्याय ने विलम्बित ताल तथा लयकारी की मूर्छना से लगभग एक घण्टे तक श्रोताओं को सम्मोहित किये रखा ।

मुख्यमन्त्री बुद्धदेव भट्टाचार्य का अभिभाषण

उपस्थित सज्जनो, इस तीर्थ-स्थल में आकर आज मैं सचमुच ही प्रसन्न हूँ । मैं इसी मुहल्ले का निवासी हूँ । इसी मुहल्ले के श्यामपुकुर में मेरा जन्म हुआ था । (स्वामीजी के) इस मकान को हम लोग बचपन से जानते थे । बाद में जब मैं कॉलेज का छात्र था, तो विचार-शक्ति विकसित हुई और कॉलेज-स्ट्रीट होकर पैदल चलते हुए अपने श्यामपुकुर स्थित घर लौटता । इस भवन के सामने से जाते-जाते एक तरह की हीन भावना का बोध होता । क्या यह भवन ऐसे ही पड़ा रहेगा? उस समय निश्चय ही केवल दुखी होने के सिवा और कुछ करने की क्षमता मुझमें नहीं थी । उसके बाद सरकार में आने के बाद सुना कि रामकृष्ण मिशन द्वारा उस भवन का जीर्णोद्धार किया जायेगा, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के जन्म हुआ था । उस समय हमारी सरकार इस कार्य में यथाशक्ति सहायतार्थ अग्रसर हुई थी ।

इस भवन के पुनर्निर्माण के बाद आज हम इसके प्रथम वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में यहाँ एकत्र हुये हैं । यहाँ जो संन्यासीगण उपस्थित हैं, उनके समक्ष स्वामी विवेकानन्द के बारे में मेरा कुछ बोलने की इच्छा करना धृष्टता होगी । मैंने अपने जीवन में उन्हें जैसा समझा है, तदनुसार वे एक ऐसे भारतीय थे, जिन्होंने मात्र ३९ वर्ष की आयु (१८६३-१९०२) में प्राच्य आध्यात्मिकता और पाश्चात्य आधुनिकता का समन्वय करके एक नवीन संस्कृति को जन्म देने का प्रयास किया था ।

१८९३ ई. में जब वे विश्व-धर्म-महासभा में प्रकट हुए, तब अन्तर्राष्ट्रीय मंच से सुनाई पड़नेवाला वह प्रथम भारतीय कण्ठ-स्वर था । भारत लौटकर उन्होंने हम भारतवासियों को अपने विचारों से अवगत कराया था । उन्होंने अनुभव किया था कि गरीब, दलित और पिछड़े लोगों के विकास के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है और जब तक समाज से धार्मिक तथा जातिगत संकीर्णताएँ दूर नहीं हो जातीं, तब तक भारत का विकास नहीं हो सकता ।

उस युग के लिये यह एक महान् विचार था । आज के इस युग में हम लोग बहुत-कुछ आसानी से सोच-विचार रहे हैं, परन्तु उस युग में धर्म, जात-पात, दीन-दुखियों के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा था, वह आज भी हमारी परम निधि है । उन्होंने ही बारम्बार हमें चारित्रिक सबलता की शिक्षा दी थी, जिस शक्ति का वर्तमान समाज में बुरी तरह से अभाव-बोध हो रहा है । उन्होंने अपने जीवन में जिस संयम व विवेक का परिचय दिया, वह एक आदर्श मनुष्य का उदाहरण है ।

स्वामीजी अपना भौतिक देह त्याग चुके हैं, परन्तु उनके जीवन काल में ही, १८९७ में उनके द्वारा स्थापित 'रामकृष्ण मिशन' आज भी विद्यमान है । हम जानते हैं कि मनुष्य मरणशील है, परन्तु कुछ ऐसे भी महापुरुष हैं, जिनके विचार उनकी मृत्यु के बाद भी दूसरों को प्रेरित करते रहते हैं तथा दूसरों के जीवन में आदर्श-रूप में परिणत होते हैं, ऐसे महा-मनीषी अनेक हैं और स्वामी विवेकानन्द इन्हीं महापुरुषों में से एक थे । स्वामीजी के द्वारा संस्थापित रामकृष्ण मिशन हमारा गौरव है, जिसका प्रभाव पश्चिम बंगाल और भारत के बाहर अनेक देशों में है । वहाँ रामकृष्ण मिशन भारत का प्रतिनिधित्व कर रहा है । आज पाश्चात्य जगत् को भी स्वामीजी के उस शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है, जिसमें उन्होंने प्राच्य की आध्यात्मिकता तथा पाश्चात्य की आधुनिकता के समन्वय की बात कही थी, क्योंकि संसार हिंसा से उन्मत्त हो रहा है, ऐसे समय में पाश्चात्य को बार-बार स्वामीजी की उस शिक्षा को ग्रहण करने के लिये उनके पास आना पड़ेगा ।

रामकृष्ण मिशन की सारी गतिविधियों से परिचित न होने पर भी, कम-से-कम हमारे राज्य में जो कुछ हो रहा है, उसे मैं कुछ-कुछ जानता हूँ । शिक्षा के क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन राज्य के शिक्षा संस्थानों में सर्वश्रेष्ठ है । राज्य के सर्वोत्तम छात्र रामकृष्ण मिशन से ही निकलते हैं । किसी भी प्राकृतिक प्रकोप, बाढ़ या अन्य आपदाओं के दौरान हमारे सरकारी संस्थान भले ही आगे न आयें, पर रामकृष्ण मिशन को हम सर्वदा वहाँ उपस्थित पाते हैं । रामकृष्ण मिशन ने कितनी बार हम लोगों को कठिन परिस्थितियों से उद्धार किया है, इसकी तालिका मैं तैयार नहीं कर सकता, क्योंकि वह सूची इतनी लम्बी होगी कि उसे प्रस्तुत करना मेरे लिये असम्भव होगा ।

आज बेलूड़ मठ में भी मैंने सुना कि जो कारखाने बन्द हो चुके हैं, उनके मजदूर वहाँ जाकर वोकेशनल ट्रेनिंग ले रहे हैं, ताकि वे अन्य कार्य करके जीवन-यापन कर सकें । रामकृष्ण मिशन ने आज इतना बड़ा दायित्व लिया है, इसके लिये मैं उन्हें बार-बार असंख्य धन्यवाद देता हूँ । रामकृष्ण मिशन कृषि – बायो-टेक्नॉलॉजी (जैव-तकनीकी) के क्षेत्र में भी आधुनिकतम शोध कर रहा है । मैंने नरेन्द्रपुर में देखा कि कैसे सैद्धान्तिक ज्ञान को क्रियात्मक, व्यावहारिकता में परिणत करके उसे किसानों के लिये उपयोगी बनाया जा रहा है । मेरा दृढ़ विश्वास है कि रामकृष्ण मिशन इसी प्रकार विज्ञान के विकास में भी हमारी सहायता करता रहेगा ।

इस समय दो घटनायें मुझे याद आ रही हैं । एक बार संजीव महाराज किसी काम के लिये मेरे पास आये थे । मैंने उनसे कहा – "देखिये, पुरुलिया जिले में सूखा, अनावृष्टि के कारण लोग बड़ी कठिनाई का सामना कर रहे हैं । हमारे पास उस मद में कुछ धनराशि भी हैं, पर उस विषय में ज्ञान का अभाव है । क्या आप इस विषय कुछ व्यवस्था कर सकते हैं?" उसके बाद उनके साथ हमारी भेंट या कोई संवाद इस प्रसंग में नहीं हो सका । हम दोनों अपने-अपने कार्य में व्यस्त हो गये । जब मैं पुरुलिया गया, तो जिला-मजिस्ट्रेट से सुना कि रामकृष्ण मिशन के स्वामीजी लोग इस क्षेत्र में कार्य करने पहुँच गये हैं और कृषि के लिये आवश्यक जल-संग्रहण का कार्य भी आरम्भ कर चुके हैं । और इतना ही नहीं, वे एक की जगह दो स्थानों पर काम करेंगे । पुरुलिया हमारे कृषि के विकास का एक प्रमुख सोपान था । वहाँ हमारी सरकार के उत्तरदायित्व को रामकृष्ण मिशन ने स्वेच्छापूर्वक अंगीकार कर लिया था । मैंने कहा – "आप लोग आइये, मैं आपकी सहायता के लिये यथाशक्ति प्रयास करूँगा ।" मैंने जिला-प्रशासन को भी यथासाध्य सहयोग करने का निर्देश दिया ।

दूसरी घटना है । हिन्दुस्तान लीवर एक बड़ी मल्टीनेशनल (बहुराष्ट्रीय) कम्पनी है । उन लोगों ने टाटा और आई.सी.आई.सी.आई. बैंक के साथ एक अनुबन्ध किया कि जिसके तहत वे लोग गरीब नारियों एवं बच्चों को नि:शुल्क पौष्टिक आहार प्रदान करना चाहते थे । वे लोग महाराष्ट्र और पश्चिम बंगाल में अपना कार्य प्रारम्भ करने वाले थे । जब उन लोगों ने कहा कि प्राइवेट कम्पनी होने के कारण उन्हें प्रान्तीय सरकार के साथ कार्य करने की जगह, किसी अन्य गैर-सरकारी संस्थान के साथ काम करने में सुविधा होगी । मैंने उन्हें रामकृष्ण मिशन के साथ कार्य करने की सलाह दी और बताया कि एकमात्र वे लोग ही सच्चाई तथा सफलता के साथ इस कार्य को सम्पन्न करने में सक्षम हैं । गाँव-गाँव में जाकर दीन-दुखियों की सेवा करना, रामकृष्ण मिशन के कार्य तथा उनके दर्शन से जुड़ी हुई है । उनमें ऐसे उत्तरदायित्व का बोध है ।

स्वामीजी के इस मकान का कार्य बहुत-सा हो गया है, कुछ बाकी है । उसके लिये अनुरोध नहीं करना होगा । उसे पूरा करना हमारा सामाजिक दायित्व है ।

आज कोलकाता महानगरी को आगे बढ़ना है । इसे उद्योग, व्यापार, वाणिज्य, शिक्षा, संस्कृति तथा अन्य सभी क्षेत्रों में विकास करना है । यदि इस शहर को सभी दृष्टियों से वास्तव में एक अन्तर्राष्ट्रीय महानगर होना है, तो रामकृष्ण मिशन की उपेक्षा करने से ऐसा कभी नहीं हो सकेगा । अत: कोलकाता के सर्वांगीण विकास रामकृष्ण मिशन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । मैं आप सबको धन्यवाद देता हूँ और संन्यासीवृन्द को भी नमस्कार करता हूँ । द द द

रामकृष्ण मिशन द्वारा राहत-कार्य

पश्चिमी बंगाल में बाढ़-राहत-कार्य - विगत कुछ काल से निरन्तर बरसात के फलस्वरूप पश्चिमी बंगाल के विभिन्न स्थानों के जलमग्न हो जाने के कारण लाखों लोग बेघर हो गये हैं। इसके अतिरिक्त कोलकाता नगर के भी कई मुहल्लों में पानी भर जाने के कारण रामकृष्ण मिशन ने कोलकाता नगर और पश्चिमी बंगाल के कई जिलों में व्यापक रूप से राहत-कार्य आरम्भ किया है। इसके अन्तर्गत पूर्वी मिदनापुर जिले के कनाईदिघी, कुमीरदा, बसन्तिया, मुकुन्दपुर तथा गोपीनाथपुर गाँवों में, कोन्टाई नगरपालिका के ४ वार्डो में, एगरा महकमे के ५ क्षेत्रों में तथा चण्डीपुर एवं उसके आसपास के अंचलों में; हावड़ा जिले के (बेलूड़ रेलवे स्टेशन के पास स्थित) शान्तिनगर तथा पश्चिमी शान्तिनगर में और दक्षिणी २४ परगना तथा कोलकाता नगरी के आसपास के पुरुषोत्तमपुर, चेमागुड़ी, गायेन बाजार आदि स्थानों में बाढ़पीड़ितों के बीच खिचड़ी, चूड़ा, गुड़, चीनी आदि का वितरण किया गया।

जम्मू-कश्मीर में भूकम्प-राहत - विगत ८ अक्तूबर २००५ को जम्मू और कश्मीर में एक अति विध्वंशक भूकम्प आया था। रामकृष्ण मिशन, अपने जम्मू केन्द्र के माध्यम से, वहाँ के पूंछ अंचल के पीड़ितों के बीच राहत-कार्य आरम्भ करते हुए १९२० किलोग्राम आटा, २५०० किलोग्राम नमक, २००० किलोग्राम बिस्कुट, ३०० किलोग्राम दूध पाउडर, ३६० किलोग्राम वाशिंग पाउडर, ३६० किलोग्राम सरसों का तेल, ६० लीटर घी, ४७२५ कम्बल, २५ तम्बू तथा उसे लगाने के लिये बाँस, १०० किलोग्राम प्लास्टिक की चादरें, ६० फोम के गद्दे, ६० लालटेन, ३६ पेट्रोमेक्स, ८८ जोड़े बड़ों के और ५० जोड़े बच्चों के जूते आदि का वितरण किया गया है। विस्तृत विवरण की प्रतीक्षा है।

२४ अक्तूबर २००५ **स्वामी स्मरणानन्द**
बेलूड़ मठ, हावड़ा **महासचिव**

एम.आइ.टी. में स्वामी त्यागानन्दजी का व्याख्यान

शुक्रवार, ३ जून २००५ को किलान कोर्ट में अमेरिका के सुविख्यात मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालाजी (MIT) के २५७१ छात्रों को उक्त संस्थान के १३९वें दीक्षान्त समारोह के उपलक्ष्य में उपाधिपत्र प्रदान किये गये, जिसमें इरविन जैकोबस, सुसान हॉकफिल्ड, आदि अनेकों विद्वानों ने भाग लिया । एम. आइ. टी (MIT) में अभ्यागत हिन्दू धर्माचार्य, बॉस्टन वेदान्त सोसाइटी के स्वामी त्यागानन्द जी ने छात्रों को सम्बोधित किया । उन्होंने कहा – ‌‌‌ स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था, 'हमारे भीतर पहले से ही निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति ही शिक्षा है ।' हमारे सामने चुनौती है ज्ञान को विवेक में परिणत करने की और इसकी उपलब्धि का सर्वोत्तम उपाय है एक ऐसा परिवेश की सृष्टि करना, जो एकता तथा समन्वय को बढ़ावा दे । मैं आपके समक्ष ऐसे समन्वय की प्रेरणा देनेवाले कुछ संस्कृत मंत्रों की आवृत्ति करूँगा और तदुपरान्त उनका अंग्रेजी में अर्थ बताऊँगा – **समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह-चित्तमेषाम् । ...... असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृतं गमय ।**

"हमारा एक उद्देश्य लेकर एकत्र हों, हमारी प्रार्थना समान हो और हमारा लक्ष्य समान हो ।

"वह दिव्य सत्ता, जो ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, यहूदियों का जहोवा है, मुसलमानों का अल्ला है, बौद्धों का बुद्ध है, चीनियों का दावो है, पारसियों का अहुरमज्दा है, आदिम अमेरिकनों का विराट् आत्मा है और हिन्दुओं का ब्रह्म है; वह हमें अज्ञान से ज्ञान की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर ले चले । हम सामाजिक न्याय, अहिसा, एकता, समता और शान्ति रूपी लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु एकनिष्ठ होकर उन्मुक्त हृदय से सतत प्रयत्नशील रहें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः । धन्यवाद ।